

संपादकीय

हमारे लिए यह अत्यंत हर्ष की बात है कि देश की दो महान हस्तियों, डॉ० ए०पी०जे० अब्दुल कलाम (पूर्व राष्ट्रपति) एवं डॉ० मनमोहन सिंह (प्रधानमंत्री) जी का विश्वविद्यालय परिवार में आगमन हुआ। वह भी केवल दो हफ्तों के अंतराल में।

आदरणीय डॉ० कलाम जी ने 7 मार्च 2008 को विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों को सम्बोधित करते हुए रचनात्मक नेतृत्व (Creative Leadership) के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला। उन्होंने पूज्य महामना जी को इसी प्रकार के एक महान दूरदर्शी नेता एवं सच्चे राष्ट्रभक्त के रूप में सराहा। साथ ही उन्होंने यह भी अपेक्षा की कि हमारा विश्वविद्यालय अपनी परम्परा के अनुरूप ऐसे ही कुशल नेतृत्व सम्पन्न श्रेष्ठजनों का निर्माण करता रहेगा, जो अपने देश को सन् 2020 तक एक विकसित राष्ट्र के रूप में खड़ा कर देंगे। उन्होंने विशेषतः नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों से समन्वित व्यक्तित्व निर्माण पर बल दिया। अपने स्वयं के चुनौती पूर्ण उदाहरणों की चर्चा करते हुए डॉ० कलाम ने बताया कि इन्हीं गुण-कौशलों से युक्त वैज्ञानिकों एवं इंजीनियरों ने देश के रक्षा और अंतरिक्ष कार्यक्रमों में महान सफलता के लक्ष्य प्राप्त किए।

इसी तरह आदरणीय प्रधानमंत्री जी ने विश्वविद्यालय के 90वें दीक्षांत समारोह के अवसर पर दिये गये अपने 15 मार्च के अभिभाषण में हमारे विश्वविद्यालय के प्रतीचि-प्राची का मेल सुन्दर वाले स्वरूप को सराहा कि यहाँ पश्चिम के आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के साथ-साथ भारतीय संस्कृति और उसके पारम्परिक ज्ञान को भी उतना ही महत्त्व दिया जाता है। उन्होंने कहा कि "इस विश्वविद्यालय की स्थापना के समय से ही यह कल्पना की गयी कि यहाँ भावी प्रौद्योगिकीविद् ही नहीं, बल्कि चरित्रवान व कर्मवीर नौजवान भी तैयार किए जायेंगे, जो देश के निर्माण में गहनता से योगदान दे सकें।"

आज विश्व जिस तेजी से बदल रहा है, वैसा कभी नहीं हुआ। इस बदलाव के दौर में आगे बढ़ने के लिए ज्ञान की अहम् भूमिका है। उन्हीं के शब्दों में "यदि किसी देश को तरक्की करनी है और दुनिया में अपनी सही जगह को हासिल करना है तो मेरे मत में तीन चीजों की सख्त जरूरत है। पहली, यह कि देश में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की अच्छी बुनियाद हो और जीवन के हर क्षेत्र में इनका सही इस्तेमाल हो। दूसरी, देश की अर्थव्यवस्था मजबूत हो, देश में चारों ओर खुशहाली हो और सभी लोग आदर और खुशी की जिंदगी बितायें। तीसरी, देश की सुरक्षा मजबूत हो ताकि देश अंदरूनी और बाहरी राष्ट्र विरोधी ताकतों का मुकाबला कर सके। यदि हमें इन तीनों मुद्दों पर सफल होना है तो देश में एक मजबूत शिक्षा व्यवस्था की जरूरत है- खासकर उच्च शिक्षा की।"

हम इन दोनों श्रेष्ठजनों के विचारों का स्वागत करते हैं, उन्हें प्रेरणादायक और अनुकरणीय

मानते हैं।

हमारे देश में प्रचुरमात्रा में प्राकृतिक संसाधन उपलब्ध हैं। विश्वस्तरीय प्रतिभाओं की भी कोई कमी नहीं है। साथ ही हमारी अपनी विशिष्ट गौरवशाली समृद्ध परम्परा भी रही है। पर इन सबके बावजूद आज हम उतनी प्रगति नहीं कर पा रहे हैं, जितनी हमारी संभावनाएं हैं और अपेक्षाएं हैं। भौतिक-आर्थिक प्रगति के साथ-साथ हम एक सम्य मानवोचित गौरवशाली एवं विकसित भारत का निर्माण नहीं कर पा रहे हैं।

इसका एक प्रमुख कारण यह है कि शिक्षा द्वारा जिस वर्ग को प्रबुद्ध और सक्षम बनाया जा रहा है, उसमें नैतिक एवं मानवीय मूल्यों की कमी दिखाई पड़ती है। इसी कारण डॉ० कलाम साहब की दृष्टि के अनुरूप रचनात्मक नेतृत्व का विकास तथा हमारी विज्ञान-प्रौद्योगिकी एवं अर्थव्यवस्था के क्षेत्र में वह प्रगति नहीं हो पा रही है, जिसे माननीय प्रधानमंत्री जी देखना चाहते हैं। उच्च शिक्षा के विस्तार और उसकी अकादमिक गुणवत्ता सुधारने के प्रयासों के साथ ही साथ हमें इस बात पर भी विचार करना होगा कि कैसे इस व्यवस्था में नैतिक और मानवीय मूल्यों का भी समुचित समावेश किया जाय?

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के संस्थापक पूज्य महामना जी ने सन् 1905 में विश्वविद्यालय की प्रस्तावना के समय ही इस बात के महत्त्व को पहचानते हुए विश्वविद्यालय की भूमिका तय की। उनके शब्दों में—“व्यक्ति और समाज की उन्नति के बौद्धिक विकास से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है, चारित्रिक विकास।मात्र औद्योगिक प्रगति से ही कोई देश खुशहाल, समृद्ध और गौरवशाली राष्ट्र नहीं बन जाता।अतः युवाओं का चरित्र निर्माण करना प्रस्तावित विश्वविद्यालय का एक प्रमुख लक्ष्य होगा। उच्च शिक्षा द्वारा यहां केवल अभियंता, चिकित्सक, वैज्ञानिक, विधिवेत्ता, शास्त्रज्ञ विद्वान ही नहीं तैयार किए जायेंगे वरन् ऐसे व्यक्तियों का निर्माण किया जायेगा, जिनका चरित्र उज्ज्वल हो, जो कर्तव्य परायण और मूल्य-निष्ठ हों। यह विश्वविद्यालय केवल अर्जित ज्ञान के स्तर को प्रमाणित कर डिग्रियां देने वाली संस्था न होकर सुयोग्य सच्चरित्र नागरिकों की पौधशाला होगा।”

महामना के इन विचारों से प्रेरित होकर मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र सन् 1992 से ही उच्च शिक्षा व्यवस्था में नैतिक एवं मानवीय मूल्यों की स्थापना हेतु प्रयत्नशील है। केन्द्र इस दिशा में विभिन्न वर्ग के लोगों के लिए औपचारिक एवं अनौपचारिक रूप से मूल्य-चिन्तन आधारित कार्यक्रमों का आयोजन करता है। आप सभी के अवलोकन हेतु इन कार्यक्रमों की संक्षिप्त रपट इस पत्रिका में प्रकाशित की जा रही है। ‘मूल्य-विमर्श’ आप सभी लेखकों एवं पाठकों के बीच मूल्य-चिन्तन को विकसित करने की दिशा में एक छोटा सा प्रयास है। हमारा आप सभी प्रबुद्धजनों से निवेदन है कि अपने विचारों के द्वारा इस प्रयास में सतत् सहभागी बनें। आपके सहयोग से ही मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र अपने उद्देश्य प्राप्ति में सफल हो सकेगा।

• डॉ० धर्मन्द्र कुमार मिश्र

गूल्य विगर्स 3

सुसंस्कृत मालवीय जी

प्रो० धर्मपाल मैनी

‘पूज्य मालवीय जी भारतीय संस्कृति के मूर्तिमान रूप थे— उन्हें निकट से देखने, अनुभव करने वाले मर्मज्ञ आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है। भारतीय संस्कृति की मूल-चेतना ‘निवृत्ति-परक-प्रवृत्ति’ से तो मानों मालवीय जी का जीवन ही परिचालित था। उनके कर्मठ और कर्मण्य जीवन को देखें, तो पता चलता है कि वह अनेक क्षेत्रों में सतत कार्यरत रहते थे, जो उनकी प्रवृत्ति-गामी-वृत्ति का परिचायक है, लेकिन उनके सभी कार्य कभी समाज सुधार, कभी देश-सेवा और कभी अभाव-ग्रस्त का उन्नयन आदि, पूर्णतया निःस्वार्थ भाव से होते थे, अतः वे सभी निवृत्ति-परायण होते थे। भौतिक जगत में जिनसे कोई वैयक्तिक लाभ न होता हो।

धर्म-परायण, सात्विक, कथा-वाचक पिता और भक्ति-परायण माँ से जो संस्कार मिले थे, उनसे महामना ने जो सादगी अपनाई, वह अद्भुत थी, सोलहें वर्ष में जो स्वदेशी वस्त्रों का धोती-कुर्ता पहनना आरम्भ किया, वह जीवन के अंतिम क्षण तक चलता रहा, चाहे वायसराय रिपन से मिलने वाले भारतीय शिष्ट-मण्डल का नेतृत्व करना हो, या सन् 1931 में गोलमेज वार्ता में भाग लेने लंदन जाना हो। उनका यह स्वदेशी प्रेम अन्यान्य रूपों में जीवन भर दृढ़तर होता गया। महात्मा गांधी से पहले ही उन्होंने इसे अपनाया और प्रचारित व प्रसारित करते रहे। उनका कहना था की हाथ से बने खादी के वस्त्र न मिलें, तो स्वदेशी मिलों के वस्त्र पहनें और विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार करें, इससे भारतीय वस्त्र-उद्योग को प्रश्रय मिलेगा, बुनकरों को आजीविका मिलेगी और देश-प्रेम का भाव भी बढ़ेगा, जो स्वतंत्रता की चेतना जगाएगा।

उनके इस स्वदेश-प्रेम ने ही भारत की प्रगति के लिए जिस चिन्तन-परायण दूरदृष्टि का आश्रय लिया, उसी का सुपरिणाम था कि उन्होंने विज्ञान, आयुर्वेद, कृषि, उद्योग एवं शिक्षा के सभी क्षेत्रों में नवीन विधाओं के आधार पर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का निर्माण किया जो आज भी विश्व में शिक्षा के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण बना हुआ है। उनका चिन्तन जितना गहन था उतना ही व्यापक, जितना वर्तमान के लिए था उतना ही भविष्य पर ध्यान रखे हुए था, इसके साथ ही उन्होंने न केवल संस्कृत अध्ययन को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया, अपितु भारतीय संस्कृति, प्राचीन भारतीय इतिहास, साहित्य एवं कलाओं के अध्ययन को भी विशेष स्थान दिया।

वस्तुतः अभाव-ग्रस्त सांस्कृतिक परिवार में उनका विकास हुआ था। विशेष परिश्रम कर जहाँ वे अच्छी तरह पढ़ाई करते रहे, वहाँ खेल-कूद एवं व्यायाम से भी अपने शरीर को पुष्ट करते रहे, भागवत्कथा सुनते-सुनते भक्ति तत्त्व का विकास भी किया और भाषण देने की कला में निपुण होकर तो विशेष छात्र-वृत्ति अर्जित की। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी में इस भाषण-कला में प्रवीणता ने उन्हें धीरे-धीरे समाज में नेतृत्व भी प्रदान किया। उनके इस सर्वांगीण विकसित व्यक्तित्व ने ही उन्हें वह आत्म-सम्मान और स्वाभिमान दिया, जिसके कारण वे अपने अन्तर्मन की बात को आगे चलकर नम्रतापूर्वक परन्तु दृढ़ता से कह सकें, चाहे भारतीय नेताओं से अराहमति जतलानी हो या ब्रिटिश सरकार की नीतियों से। उनके इस सांस्कृतिक व्यक्तित्व का ही परिणाम था, कि वैयक्तिक जीवन में व्यवस्थित, नियमित एवं धर्म-परायण होते हुए भी सामाजिक जीवन में युग की आवश्यकता एवं आकांक्षा

के अनुरूप चल सके। ऐसा पौराणिक व्यक्ति अछूतोद्धार को क्रियात्मक रूप देगा, कोई सोच भी नहीं सकता था, लेकिन उन्होंने उनके साथ बैठकर कई स्थानों पर भोजन भी किया और उन्हें मंत्र दीक्षा भी दी। इस प्रकार अस्पृश्यता निवारण, जाति, प्रदेश, भाषा आदि के भेदों को दूर कर एक भारत का संदेश देना, स्त्री-शिक्षा, दहेज-प्रथा विरोध, विधवा-विवाह, स्त्रियों का समाज में उचित स्थान आदि अनेक समाज-सुधारों में वे सतत् लगे रहे।

आरम्भ से ही वे विवेकशील थे, अतः प्रत्येक कार्य को करने से पहले उसके सभी पक्षों पर विचार कर निर्णय लेते थे और एक बार निर्णय लेने के बाद एकाग्र-चित्त होकर प्राण-पण से उसमें जुट जाते थे। भारत की दीन-हीन दशा देखकर वे कई वर्षों तक इसके उत्थान के साधनों पर विचार-विनिमय करते रहे। अन्ततः निर्णय लिया, अपनी शिक्षा-संस्था द्वारा ही भारतीयों को आधुनिक दृष्टि से शिक्षित करना ही इनके उत्थान का मूलाधार हो सकता है। साधनों के अभाव के होते हुए भी दृढ़ निश्चयी मालवीय जी, समाज और ब्रिटिश सरकार की अड़चनों को दूर करने में लगे रहे और धीरे-धीरे धन भी एकत्रित करते रहे। अपने युग के 'विश्व के सबसे बड़े भिखारी' की उपाधि भी अर्जित की, लेकिन इसी लक्ष्य की पूर्ति में लगे रहे। लगभग 20 वर्षों बाद इसमें सफल भी हुए और भारत ही नहीं, विश्व को दे गए एक अविस्मरणीय यादगार- 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय'।

त्याग उनके व्यक्तित्व का सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व था। जीवन के आरम्भ में ही उन्होंने देश-सेवा का व्रत लिया था, लेकिन अभाव-ग्रस्त माँ के अश्रुओं ने अध्यापकत्व स्वीकार करने पर विवश कर दिया था, पुनः बहुत आमदनी वाली 20 वर्ष की वकालत को 1913 ई० में छोड़ दिया और सम्पूर्ण वैभव से सदा ही दूर रह कर सादा जीवन

बिताया। उनके त्याग की आधार भूमि कभी दया होती थी, तो कभी दान-वृत्ति। अभाव-ग्रस्त जीवन की दुविधाओं को उन्होंने वैयक्तिक जीवन में अनुभव किया था, अतः इसके महत्त्व को अच्छी तरह जानते थे। इसीलिए अभाव-ग्रस्त उपयुक्त पात्रों से वे केस की फीस भी न लेते थे। विश्वविद्यालय में गरीब विद्यार्थियों से भी फीस न लेते थे। इस त्याग ने ही उनकी सेवा-वृत्ति को प्रश्रय दिया। इलाहाबाद में प्लेग का प्रकोप होने पर निःसंकोच और निर्भय होकर उन्होंने बड़े व्यापक धरातल पर जन-समाज की सेवा की। सन् 1914 में अखिल भारतीय सेवा समिति स्थापित कर कुष्ठ-आश्रम, वृद्धाश्रम की स्थापना तथा अकाल, भूकंप एवं बाढ़ के समय पीड़ित व्यक्तियों की सहायता करते रहे। उनका संवेदनशील हृदय सदा ही दुखियों के दुख से दुखी रहता था और वे उनके लिए सभी प्रकार का त्याग करने के लिए तैयार रहते थे, चाहे वे जलियांवाला बाग के अत्याचार से ग्रसित हों, या कोहाट के दंगों से पीड़ित हों अथवा बिहार के भूकंप के शिकार हों या बर्मा से आए शरणार्थी हों। उनकी इस निःस्वार्थ सेवा ने उन्हें समाज में विशेष आदर और श्रद्धा का पात्र बना दिया था।

उनका निष्कलंक चरित्र उनकी महिमा का सबसे महत्त्वपूर्ण आयाम था। इसी कारण उस युग में बड़े से बड़े राजा-महाराजाओं के पास वे निर्भय होकर विश्वविद्यालय के लिए दान लेने चले जाते थे। उनके तेजस्वी आनन, वर्चस्वीवाणी, मनस्वी परोपकार वृत्ति, उच्च समाज-सुधार की चेतना और निःस्वार्थ देश-कल्याण की भावना इतनी प्रभावोत्पादक होती थी, कि धन-कुबेरों की लक्ष्मी अनायास ही सरस्वती की साधिका बन कर चली आती थी। उस युग में इतनी बड़ी राशि का संग्रह एक अद्भुत कार्य था। महामना के सुसंस्कृत व्यक्तित्व की यह गरिमा थी, जो इस महत् कार्य को सम्पन्न करने में

साधिका सिद्ध हुई।

भारतीयों के व्यक्तित्व को आत्म-सम्मान परायण बनाने में उन्होंने सभी साधनों का आश्रय लिया। अपनी संस्कृति का महत्त्व बताया, महापुरुषों के चरित्र का परिचय दिया, अपने अच्छे इतिहास से अवगत कराया, इस प्रकार उदात्त व्यक्तित्व बनाने की प्रेरणा दी। संस्कार, धर्म और अध्यात्म के वास्तविक स्वरूप से उनका नाता जोड़ा। अंधविश्वासों को दूर कर बौद्धिक ग्राहिका शक्ति को विकसित करने का संदेश दिया। इसीलिए विश्वविद्यालय के एक दीक्षांत भाषण में उन्होंने कहा था— “अपने मंदिर के ज्ञानमय स्तम्भों से अन्धकार में पड़े हुए संसार को प्रकाश देने और मनुष्य-मात्र को परम ज्योतिर्मय परमेश्वर की झाँकी दिखलाने के लिए यह पैदा हुआ है।” एक बार और यहाँ के विद्यार्थियों को संदेश दिया था— “यहाँ के पवित्र वातावरण से हृदय को पवित्र बना लो, मन को विमल बना लो, आत्मा को शुद्ध कर लो, संसार में जहाँ भी जाओगे, वहाँ मान के अधिकारी बनोगे।”

राष्ट्र-भक्ति उनके व्यक्तित्व का महत्त्वपूर्ण अंग था। स्वदेशी जागरण के अतिरिक्त राष्ट्र-भाषा हिन्दी को अदालतों, सरकारी कामकाज तथा पाठशालाओं में लाने के लिए 60,000 हस्ताक्षर करवाना; चौरी-चौरा काण्ड के 156 अभियुक्तों को अपनी तार्किक योग्यता से अदालत से छुड़वाना; 1886 से मृत्युपर्यन्त कांग्रेस में न केवल सक्रिय भाग लेना, अपितु चार बार अध्यक्ष बन कर उचित दिशा-निर्देश देना; हिन्दू महासभा का भी प्रभावी नेता बनना; हिन्दू-मुस्लिम एकता बनाने का अनेक सम्मेलनों द्वारा प्रयत्न करना; भारतीय हित के दृष्टिकोण से ब्रिटिश कौन्सिल में निर्भीक होकर उनकी नीतियों का विरोध करना; विधान कौन्सिल तथा लेजिस्लेटिव असेम्बली में भी भारत के लिए उपयोगी संदेश देना; पंजाब मार्शल ला के विरुद्ध

14 घंटे का भाषण देना; 52 पृष्ठों की महत्त्वपूर्ण औद्योगिक रिपोर्ट देना और मरने से पहले गांधी को संदेश देना— “देश की स्वतंत्रता का सौदा देश-विभाजन से न किया जावे” आदि उनके राष्ट्र-भक्ति के परिचायक महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं।

कुल मिलाकर कहा जा सकता है कि गत् शताब्दी में ऐसा सुसंस्कृत, गरिमामय, राष्ट्र-भक्त, समाज-सुधारक, चरित्रवान्, शिक्षाविद्, प्रभावोत्पादक वकील, प्रबुद्ध राजनेता, सशक्त धार्मिक नेता, वैयक्तिक जीवन में धर्मनिष्ठ, त्यागी, दयालु, दानी, उदार, विनम्र, संवेदनशील, सहृदय, विवेकशील, संतुलित, समन्वय-परायण, दृढ़ निश्चयी, निर्भीक, स्वाभिमानी, निःस्वार्थ-सेवक, निष्कलुष, व्यवस्थित, सेवा-परायण, साधना-रत, कर्मठ-कर्मण्य, संयमी, वक्ता, परोपकारी, दूरदृष्टि रखने वाले, उदात्त व्यक्तित्व वाले महामना जी थे। सम्भवतः इसीलिए पंजाब केसरी लाला लाजपतराय ने कहा था— “मालवीय जी जैसे महापुरुष कहीं सैकड़ों वर्षों में पैदा हुआ करते हैं।” •

किन उपायों से देश को अभ्युदय प्राप्त होगा, उसके विचार के प्रारम्भ में हमको एक बात स्पष्ट रीति से समझ लेनी उचित है। प्रत्येक देश या जाति का अभ्युदय मूल में उसकी प्रजा के आत्म-पौरुष पर निर्भर है। कोई राजा व शासन किसी देश की प्रजा को अभ्युदित नहीं कर सकता, जब तक उस देश की प्रजा अपने पौरुष को पूर्ण रीति से काम में न लावे।

● महामना मालवीय जी

धर्मनिरपेक्षता और राष्ट्रीय विकास

राकेश कुमार मित्तल

स्वतंत्र भारत के इतिहास में आज धर्म एक बड़े प्रश्न के रूप में देश के सामने है। ऐसा प्रतीत होता है कि देश का भविष्य ही इस प्रश्न से जुड़ गया है। लोगों को लगने लगा है कि क्या भारतीय संविधान द्वारा अपनाया गया धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त वास्तव में उपयुक्त कदम था। आज राष्ट्र के साधनों का एक बड़ा भाग साम्प्रदायिकता की फैलती आग को नियंत्रित करने में व्यय हो रहा है। शताब्दियों से भाई-भाई की तरह रहने वाले सम्प्रदायों के बीच एक दीवार सी खड़ी होने लगी है। इसका अत्यन्त प्रतिकूल प्रभाव देश के आर्थिक एवं समाजिक विकास पर पड़ा है और यदि स्थिति को शीघ्र नियंत्रित न किया गया तो राष्ट्र का अस्तित्व ही खतरे में पड़ सकता है।

उपरोक्त विषय पर विस्तार से विचार करने के लिए यह आवश्यक है कि सर्वप्रथम इस प्रश्न पर विचार किया जाय कि "धर्म" क्या है? मेरा मत है कि मूल कठिनाई यहीं पर है और यदि लोग "धर्म" की परिभाषा को ठीक प्रकार समझ सकें तो धर्म से संबंधित सभी समस्याओं का समाधान स्वयं हो जायेगा। शास्त्रों में "धर्म" शब्द का अर्थ "धारण करना" माना गया है। जिस प्रकार किसी संस्था, शासन आदि को चलाने के लिए संविधान आवश्यक होता है, उसी प्रकार जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए "धर्म" की आवश्यकता है। अतः "धर्म" को एक प्रकार से "जीवन का संविधान" कहा जा सकता है और यह मानव की आन्तरिक आवश्यकता है। हमारे धर्मग्रन्थों में जो सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं, वे किसी एक व्यक्ति द्वारा पारित आदेश नहीं हैं, बल्कि अनेक विवेकशील व्यक्तियों (जिन्हें ऋषि, मुनि, पीर, फरिश्ता आदि कहा जाता है) द्वारा जीवन में किये गये अनुसंधान एवं अनुभवों पर आधारित हैं। यह हो

सकता है कि कुछ सिद्धान्त केवल तत्कालीन परिस्थितियों में ही उपयुक्त हों और उनमें संशोधन की आवश्यकता हो। यह उसी प्रकार है जैसे देश के संविधान में समय एवं परिस्थितियों के साथ संशोधन की आवश्यकता पड़ती है, किन्तु संविधान के मूल सिद्धान्त वही रहते हैं। इसी कारण प्रत्येक धर्म में समय-समय पर विभिन्न मत प्रतिपादित हुए। ऐसा कहना उचित नहीं होगा कि ऐसे मतों का प्रतिपादन इस कारण हुआ कि पूर्व प्रतिपादित सिद्धान्तों में कोई त्रुटि थी। मानव जीवन परिवर्तनशील है और इस परिवर्तन के साथ जीवन के सिद्धान्तों में भी परिवर्तन होना आवश्यक है। यदि ऐसा न किया जाय तो धर्म से लोगों की आस्था उठने लगे तथा धर्म का मूल उद्देश्य ही समाप्त हो जाय।

इसी प्रकार जब किसी धर्म के सिद्धान्तों में मौलिक परिवर्तन की आवश्यकता पड़ी तो उसे नया नाम दे दिया गया। यह किसी द्वेष-भाव से नहीं किया गया, किन्तु परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुसार व्यापक सोच-विचार कर एवं सद्भावना से किया गया। विभिन्न धर्मों को यदि हम इसी दृष्टि से देखें तो सभी धर्मों के प्रति हममें आदर उत्पन्न होगा और एक-दूसरे के टकराव का विचार ही मन में नहीं आयेगा। भारत के संविधान में "धर्मनिरपेक्षता" का सिद्धान्त इसी बात को ध्यान में रखते हुए अपनाया गया था। संविधान के निर्माता यह बात अच्छी तरह से जानते थे कि भारत के सामाजिक ढाँचे की वास्तविकता क्या है और इस ढाँचे में "धर्मनिरपेक्षता" का सिद्धान्त ही सबसे उपयुक्त था और आज भी है। आवश्यकता इस बात पर विचार करने की है कि इस सिद्धान्त के पालन में कहीं त्रुटि हुई, जिसके कारण उसकी उपयुक्तता पर ही प्रश्न लगने लगा है।

हमारे संविधान को बने अभी लगभग सत्तावन वर्ष ही हुए हैं। किसी देश के इतिहास में इतना समय अल्प समय ही माना जाता है। अतः इतने कम समय में ही संविधान के एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त पर प्रश्नचिह्न लगाना अत्यन्त चिन्ता का विषय है।

ऐसा क्यों हुआ, इसकी विवेचना करने के लिए हमें उन कारणों को जानना होगा, जिसके कारण लोगों का विश्वास धर्म से उठने लगा। ऐसे कारणों की ही समीक्षा हम पहले करेंगे। इन कारणों को हम चार श्रेणियों में विभक्त कर सकते हैं : वैज्ञानिक, आर्थिक, राजनैतिक एवं सामाजिक।

विज्ञान के क्षेत्र में विश्व भर में हुई क्रांति से हम सब परिचित हैं। यह बात सिद्ध की गई है कि जितनी वैज्ञानिक प्रगति पिछले 50 वर्षों में हुई है, उतनी 2000 वर्षों में भी नहीं हुई। इस वैज्ञानिक प्रगति का सीधा प्रभाव जीवन पर पड़ा है। यह परिवर्तन इतनी तेजी से हुआ कि मानव इसके लिए तैयार नहीं था। डार्विन का विकास-क्रम सिद्धान्त यह बताता है कि मानव का आन्तरिक परिवर्तन वातावरण के अनुसार शनैः-शनैः होता है। यदि बाह्य परिवर्तन अत्यन्त तेजी से हो तो दोनों में दूरी हो जाना स्वाभाविक है। वर्तमान समय में यही हुआ है। विज्ञान के क्षेत्र में हुए परिवर्तन से मनुष्य का आन्तरिक परिवर्तन ताल-मेल नहीं रख सका है। इसको यदि इस प्रकार कहा जाय कि धर्म, विज्ञान के क्षेत्र में हुए परिवर्तनों के साथ-साथ ताल-मेल नहीं रख सका है, तो अधिक उपयुक्त होगा। इसका प्रभाव यह हुआ कि धर्म पिछड़ेपन का प्रतीक बनने लगा और धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त का तात्पर्य धर्म में विश्वास न रखना माना जाने लगा। समस्या का प्रारम्भ यहीं से हुआ। कुछ समय तो समाज को इसका आभास नहीं हुआ क्योंकि वैज्ञानिक उन्नति की चमक-दमक में जीवन के मौलिक सिद्धान्तों की ओर से उसका ध्यान ही हट गया। मनुष्य को लगा कि विज्ञान के पास जीवन की

सभी समस्याओं का समाधान है। किन्तु जैसे-जैसे उसे विज्ञान की सीमाओं का आभास होना प्रारम्भ हुआ, मनुष्य का ध्यान पुनः इन सिद्धान्तों की ओर आकर्षित हुआ, जिन्हें हम धर्म के रूप में मानते हैं। दुर्भाग्य से इस बीच "धर्म" के प्रचार का कार्य अधिकांशतः ऐसे लोगों के हाथ में चला गया जो "धर्म" की वैज्ञानिक व्याख्या करने को तैयार नहीं थे। दूसरी ओर वैज्ञानिक उन्नति के कारण मनुष्य का जो बौद्धिक विकास हुआ, उससे वह धर्म की रूढ़िवादिता स्वीकार करने को तैयार नहीं था। इस प्रकार से एक विरोधाभास की स्थिति उत्पन्न हो गयी। सामान्य आदमी इसे "धर्म" की अपूर्णता मानने लगा।

विश्व भर में हुई आर्थिक क्रांति का प्रभाव भी "धर्म" पर पड़ा है। सामान्यतः प्रत्येक धर्म में आवश्यकतायें कम करने, त्याग करने आदि जैसे सिद्धान्तों पर जोर दिया गया है। दूसरी ओर आर्थिक उन्नति का तात्पर्य ही यह है कि लोगों की आवश्यकताओं को बढ़ाया जाए और फिर उनकी आपूर्ति की व्यवस्था की जाय। आज किसी राष्ट्र की उन्नति का पैमाना वहाँ के नागरिकों द्वारा उपयोग की जाने वाली सामग्री है। इसके लिए प्रति व्यक्ति कागज, प्लास्टिक, ऊर्जा आदि के उपयोग को पैमाना बनाया जाता है। देश के आर्थिक विकास का पैमाना भी "कुल राष्ट्रीय आय" अथवा "प्रति व्यक्ति आय" को बनाया जाता है। आज हम निर्धनों को निर्धनता की रेखा से ऊपर उठाना एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक कार्यक्रम मानते हैं। इसके लिए विशेष योजनायें बनायी जाती हैं व लक्ष्य निर्धारित किये जाते हैं। यह सब ऐसा आभास देता है कि आर्थिक विकास एवं धर्म के सिद्धान्तों में एक प्रकार का विरोधाभास है, क्योंकि यदि धर्म के सिद्धान्तों का शाब्दिक रूप में अपनाया जाय तो लगता है कि आर्थिक विकास की कोई आवश्यकता नहीं है। वास्तव में ऐसा नहीं है और इस विरोधाभास को दूर करने की आवश्यकता है। धर्म के प्रचारकों ने यह प्रचार किया कि

किया, जिसका प्रभाव धर्म की उपयोगिता पर पड़ा। धर्म पर राजनैतिक क्षेत्र के परिवर्तनों का भी विशेष प्रभाव पड़ा है। भारत के संविधान में लोकतांत्रिक ढाँचे को स्वीकार किया गया है। जब तक राजनैतिक मूल्यों में गिरावट नहीं आयी, धर्म का राजनैतिक क्षेत्र में दुरुपयोग नहीं किया गया, किन्तु जैसे-जैसे लोकतांत्रिक ढाँचे में वोटों की संख्या महत्वपूर्ण होती जा रही है, वैसे-वैसे “धर्म” के नाम पर राजनैतिक शोषण प्रारम्भ हो गया है। यह विभिन्न प्रकार से किया जा रहा है। कभी धर्म विशेष के लोगों को धार्मिक स्वतंत्रता के नाम पर अनावश्यक छूट देकर और कभी एक धर्म के विरुद्ध दूसरे धर्म के लोगों को उत्तेजित करके। दोनों ही स्थितियाँ दुर्भाग्यपूर्ण हैं। इससे धर्म के प्रति दृष्टिकोण संकीर्ण हुआ है।

इसी प्रकार सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन का भी धर्म पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। आज समाज में लक्ष्य प्राप्ति ही सब कुछ हो गया है। चाहे वह शिक्षा का क्षेत्र हो, चाहे व्यापार का क्षेत्र हो और चाहे कोई अन्य क्षेत्र, आज लक्ष्य प्राप्त करने के माध्यम पर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। जिस माध्यम से लक्ष्य शीघ्र से शीघ्र प्राप्त हो, उसे ही ठीक माना जाने लगा है। अपना लाभ करने के लिए किसी की हानि भी हो तो उसे बुरा नहीं माना जाता। सभी लोग एक ऐसी होड़ में लगे हैं कि उन्हें केवल अपने स्वार्थ की ओर ही ध्यान रहता है, दूसरे के हित की ओर नहीं। दूसरी ओर “धर्म” में केवल परहित की बात ही की जाती है। यहाँ तक कि अपनी हानि करके दूसरे को लाभ पहुँचाने तक की बात कही जाती है। परिणामस्वरूप एक साधारण मनुष्य को दिन-प्रतिदिन के सामाजिक नियमों/प्रचलनों तथा धर्म के सिद्धान्तों में एक विरोधाभास दिखाई देने लगा है।

इस प्रकार विभिन्न कारणों से आज साधारण मनुष्य का धर्म के प्रति दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण हो गया है और वह धर्म को जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में

आवश्यक न मानकर अवरोध समझने लगा है। अतः सर्वप्रथम आवश्यकता इस बात की है कि “धर्म” की सही परिभाषा की जाय और इसे लोगों तक पहुँचाया जाए। धर्म की व्याख्या अब वैज्ञानिक दृष्टिकोण से करनी होगी और यह सिद्ध करना होगा कि धर्म जीवन की आवश्यकता है व धर्म का उचित उपयोग आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों में सहायक है, बाधक नहीं। ऐसा नहीं है कि धर्म की इस प्रकार की व्याख्या कभी नहीं हुई हो। अनेक विद्वानों ने इस क्षेत्र में कार्य किया है और कर रहे हैं, किन्तु दुर्भाग्य से उसका पर्याप्त प्रचार एवं प्रसार नहीं हो रहा है। विभिन्न क्षेत्रों में हो रहे परिवर्तनों से आज मनुष्य के मन में विभिन्न प्रकार के प्रश्न उठते हैं और उसके इन प्रश्नों का उत्तर “धर्म” द्वारा दिया जाना चाहिए। यदि नहीं दिया जाता तो इसे वह धर्म की अपूर्णता समझेंगे और यदि इससे उनका धर्म के प्रति दृष्टिकोण संकीर्ण होता है तो इसके लिए उसे दोष नहीं दिया जा सकता। इसके लिए दोषी तो वे लोग हैं, जो अपने को “धर्मगुरु” आदि बताकर अपने को धर्म का संरक्षक बताते हैं। वास्तव में ऐसे लोग ही धर्म को सर्वाधिक हानि पहुँचा रहे हैं।

वास्तविकता यह है कि प्रत्येक धर्म में मनुष्य के मन में उठने वाले सभी प्रश्नों का पर्याप्त उत्तर है। संक्षेप में हम विभिन्न क्षेत्रों के प्रश्नों को ले सकते हैं। आज विज्ञान के क्षेत्र में जो उन्नति हुई है, उससे धर्म का कोई विरोधाभास नहीं है। वैज्ञानिक प्रगति प्राचीन काल में भी चरम सीमा पर पहुँच चुकी थी और विज्ञान द्वारा प्रदान की गयी सुविधाओं का उपयोग करना कभी धर्म के विरुद्ध नहीं माना गया। वास्तव में इन सुविधाओं के माध्यम से तो धर्म के पालन में सहायता मिलती है। आज हमारे ऐसे अनेक कार्य सुविधा से हो जाते हैं, जिन्हें करने के लिए पहले बहुत कठिनाई होती थी और अधिकांश समय व साधन उन्हीं कार्यों में लग जाते थे। धर्म केवल इतना कहता

है कि बाह्य सुविधाओं पर अधिक निर्भरता कष्ट का कारण बन सकती है, अतः इस बात को ध्यान में रखते हुए ही सुविधाओं का उपयोग करना चाहिए। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य को अपने मन पर नियंत्रण रखना आवश्यक है, ताकि विज्ञान द्वारा प्रदत्त सुविधाओं का वह बन्दी न बने। यदि ऐसा होता है तो विज्ञान दुःख का कारण बन सकता है और उस दशा में विज्ञान को दोषी मानना अथवा उसको धर्म विरुद्ध समझना उचित नहीं है। वास्तव में धर्म एवं विज्ञान एक-दूसरे के पूरक हैं और जब भी इन दोनों के बीच उचित समन्वय रखा जाता है, जीवन अधिक आनन्दमय बनता है, चाहे वह व्यक्तिगत स्तर हो, चाहे पूरे समाज के स्तर हों।

इसी प्रकार आर्थिक विकास एवं धर्म में भी कोई विरोधाभास नहीं है। वास्तव में धर्म में भी पहले मनुष्य की मूल आवश्यकताओं को पूर्ण करने की ही बात कही गयी है। “भूखे भजन न होय गोपाला” का संकेत इसी बात की ओर है। प्रत्येक धर्म में यह माना गया है कि मनुष्य का मन तब तक स्वस्थ नहीं होगा, जब तक कि तन स्वस्थ न हो। अतः तन की समुचित देखभाल करना धर्म संगत है, किन्तु आज “आर्थिक विकास” की परिभाषा आवश्यकता से अधिक साधनों का उपयोग करने की बन गयी है। यह न तो व्यक्तिगत दृष्टि से उचित है और न ही सामाजिक दृष्टि से। अनावश्यक वस्तुओं के संग्रह में रहने वाले मनुष्य का मन ही शान्त नहीं रह सकता। यह स्थिति स्वयं उस मनुष्य के लिए ही उचित नहीं है व दूसरी ओर समाज पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। इस पृथ्वी पर इतने श्रोत तो उपलब्ध हैं कि सबकी उचित आवश्यकताओं को पूरा किया जा सके, किन्तु अनुचित आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता नहीं है। निर्धनता की रेखा से ऊपर उठने जैसे कार्यक्रम इसी बात की ओर संकेत करते हैं कि साधनों का वितरण यथासंभव समान रूप से हो। हमारे धर्मों में

कही गयी बात “वसुधैव कुटुम्बकम्” से भी यह स्पष्ट होता है कि जिस प्रकार एक परिवार में साधनों का वितरण होता है, उसी प्रकार से पूरे समाज में भी साधनों का वितरण होना चाहिए। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि क्या इससे आर्थिक विकास नहीं रुक जायेगा। इसका स्पष्ट उत्तर नहीं में है। वास्तविकता तो यह है कि जब समाज के सभी लोगों को एक न्यूनतम स्तर का जीवन व्यतीत करने का अवसर मिलेगा तो आर्थिक विकास बहुत तेजी से होगा। आज विश्व की अधिकांश जनसंख्या निर्धनता की रेखा से नीचे जीवन व्यतीत कर रही है। इसका कुप्रभाव न केवल आर्थिक विकास पर पड़ रहा है, बल्कि समाज में जो तरह-तरह के तनाव देखने को मिलते हैं, वे इसी असमानता का परिणाम हैं। धर्म में जो आवश्यकताओं को न्यूनतम करने की बात कही गयी है, वह इसी कारण है कि धरती पर उपलब्ध धन-धान्य केवल न्यूनतम आवश्यकताओं को ही पूरा कर सकते हैं। यदि तर्क के लिए यह कहा भी जाय कि ऐसा नहीं है तो यह केवल सीमित समय के लिए ही सम्भव हो सकता है। उदाहरणार्थ आज हम यह मानने लगे हैं कि धरती पर उपलब्ध अनेक साधन जैसे— तेल, कोयला आदि सीमित समय के लिए उपलब्ध है। अतः आज का मनुष्य सीमित काल के लिए तो साधनों का आवश्यकता से अधिक उपयोग कर सकता है, किन्तु यह भविष्य की पीढ़ियों के लिए अत्यन्त कठिनाई उत्पन्न कर देगा। यह बात भी सिद्ध होने लगी है कि साधनों का अनावश्यक उपयोग प्रकृति के विरुद्ध है और इससे प्रदूषण की समस्या उत्पन्न हो रही है। अतः यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विभिन्न धर्मों में प्रतिपादित सिद्धान्तों व आर्थिक विकास की आवश्यकता में कोई विरोधाभास नहीं है। बल्कि धर्म के सिद्धान्तों का पालन करने से आर्थिक विकास में और गति आयेगी।

राजनीति के क्षेत्र में धर्म का प्रयोग आज

अत्यन्त विवादास्पद विषय बन गया है। इस संबंध में विचार करना उपयुक्त होगा। हम जानते हैं कि प्राचीन काल में राजा धर्मगुरुओं को बड़ा सम्मान देते थे और समय-समय पर उनके परामर्श पर कार्य करते थे। इससे स्पष्ट होता है कि धर्म की भूमिका राजनीति में सदैव रही है। गांधी जी स्वयं इस बात को मानते थे कि धर्म को राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। यहाँ कठिनाई केवल इस बात की है कि हम किस प्रकार के धर्म की बात कर रहे हैं और कौन व्यक्ति धर्म की आड़ में राजनीति से जुड़ा है। यदि हम धर्म के उस रूप की बात करते हैं, जो शनैः शनैः विकृत हो गया है, तो कदापि राजनीति में उसका कोई स्थान नहीं होना चाहिए। इसी प्रकार यदि धर्म की आड़ में ये लोग राजनीति में हस्तक्षेप करते हैं, जो स्वार्थी हैं, तो धर्म सच्चे रूप में भी राजनीति में सहायता नहीं कर सकता। अतः इन दोनों बातों को दूर करके ही धर्म का राजनीति में स्थान बनाया जा सकता है। गांधी जी धर्म व राजनीति में इसी प्रकार के समन्वय की बात करते थे। यह बात हम सब जानते हैं कि जब भी धर्म व राजनीति में उचित समन्वय रहा, तभी प्रजा सुखी रही। किन्तु यदि आज की तरह स्वार्थी तत्वों द्वारा धर्म को राजनीति में घसीटा जायेगा, तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या राजनीति में धर्म का प्रवेश उचित है, और इसका स्पष्ट उत्तर नहीं में होगा।

अन्त में सामाजिक दृष्टि से धर्म के महत्त्व की विवेचना करना आवश्यक होगा। आज समाज में तरह-तरह की बुराइयों उत्पन्न हो गयी हैं, जिनका कुप्रभाव मनुष्य के जीवन पर पड़ रहा है। लोगों को लगने लगा है कि धर्म उन सामाजिक बुराइयों को दूर करने में असक्षम है, अतः वे इसको धर्म की कमी मानने लगे हैं। चाहे जाति व्यवस्था हो, चाहे छुआछूत, चाहे दहेज प्रथा और चाहे कोई अन्य व्यवस्था। वास्तविकता यह है कि इन सबका वैज्ञानिक आधार रहा है। किन्तु

न तो धर्म प्रचारकों ने इनका वैज्ञानिक आधार समाज के सामने स्पष्ट करने का प्रयास किया और न ही बदलती हुई सामाजिक परिस्थितियों में इन प्रथाओं में आवश्यक संशोधन करने के प्रयास किये गये। बल्कि संशोधन के स्थान पर इनका रूप विकृत ही होता गया। आज समाज के सम्मुख ये सब प्रथायें इतना दूषित रूप ग्रहण कर चुकी हैं कि समाधान कठिन दिखाई देता है। लोग इसके लिए धर्म को ही दोषी मानने लगे हैं। सत्यता इसके विपरीत है। कोई भी धर्म इन सामाजिक बुराइयों का समर्थन नहीं करता और धर्मयुक्त आचरण में इस प्रकार की बुराइयों का कोई स्थान नहीं है। अतः इनके लिए धर्म को दोषी नहीं ठहराया जा सकता। यह बात विभिन्न धर्मों द्वारा प्रचारित शास्त्र-क्रियाओं के बारे में भी कही जा सकती है। जिस प्रकार विभिन्न सामाजिक प्रथाओं का कोई उद्देश्य रहा है, उसी प्रकार विभिन्न शास्त्र क्रियाओं का भी वैज्ञानिक आधार अवश्य रहा है, किन्तु न तो इनकी कोई उचित व्याख्या ही करता है और न ही समझने का प्रयास किया जाता है। इसके कारण भी धर्म का ठीक रूप समझने में कठिनाई हुई है।

इस पूरे विवेचन से यह सिद्ध होता है कि आज धर्म को सही परिप्रेक्ष्य में समाज के सम्मुख रखने की आवश्यकता है। धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त की चर्चा तभी किसी निष्कर्ष पर पहुँच सकती है, जब हम धर्म की सही परिभाषा समझें। आज साधारण मनुष्य धर्म की जो परिभाषा समझता है, उससे धर्मनिरपेक्षता का महत्त्व वह नहीं समझ सकता। यह कार्य केवल धर्म प्रचारकों पर ही नहीं छोड़ा जा सकता, बल्कि समाज के प्रत्येक क्षेत्र के प्रबुद्ध वर्ग को आगे आना होगा। “धर्म” कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसको केवल पुस्तकों में पढ़ लिया जाय या धार्मिक रथलों में जा कर इसके बारे में सुन लिया जाय। “धर्म” तो दैनिक जीवन में प्रतिक्षण अपनाने के लिए है। बाह्य रूप से समाज के विभिन्न वर्गों के धर्म अलग-अलग हो

सकत हैं, किन्तु मौलिक रूप से सभी धर्मों के सिद्धान्त एक ही हैं और वे एक सार्थक जीवन व्यतीत करने की कला बताते हैं।

जब-जब समाज ने धर्म का पालन ठीक रूप से किया है, समाज में सुख-समृद्धि रही है। राम-राज्य की कहावत इसी बात की ओर संकेत करती है। यहाँ “राम” का तात्पर्य किसी व्यक्ति विशेष से नहीं है, किन्तु नैतिक सिद्धान्तों से है और वे किसी एक व्यक्ति अथवा धर्म की सम्पत्ति नहीं हैं। उनको सभी धर्मों ने आधार माना है। वास्तव में मानव का मूल स्वभाव ही धार्मिक है, किन्तु बाह्य वातावरण के दुष्प्रभाव के कारण आज समाज की यह स्थिति हुई है। इस वातावरण को ठीक करने की आवश्यकता है और यह धर्म को व्यवहारिक रूप से समाज के सम्मुख रखकर ही किया जा सकता है। तब हम यह कह सकेंगे कि धर्म कोई ऊपर से थोपने वाली चीज नहीं है, बल्कि बिना धर्म के सार्थक जीवन की कल्पना ही नहीं की जा सकती है। “धर्म” की उचित परिभाषा व आवश्यकता समझने के उपरान्त “धर्मनिरपेक्षता” के सिद्धान्त की व्याख्या की जा सकती है। भारतीय समाज की विविधता को ध्यान में रखते हुए हमारे संविधान निर्माताओं ने धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त स्वीकार किया था। यह न केवल तत्कालीन आवश्यकता थी, बल्कि दूरदर्शी व उपयुक्त कदम था। इसका उद्देश्य यह था कि देश के प्रत्येक नागरिक को धार्मिक स्वतंत्रता होगी और इस स्वतंत्रता में राज्य का कोई हस्तक्षेप नहीं होगा। शनैः-शनैः धर्मनिरपेक्षता की परिभाषा “कोई धर्म न मानना” हो गई और आज समाज में यह स्थिति हो गयी है कि धर्मनिरपेक्षता का अर्थ बहुसंख्यकों के धर्म का विरोध माना जाने लगा है। यह स्थिति अत्यन्त दुर्भाग्यपूर्ण है। इसके अनेक कारण हैं, जिनका किसी न किसी रूप से ऊपर भी उल्लेख किया गया है। मुख्य कारण धर्म प्रचारकों

का संकीर्ण दृष्टिकोण एवं स्वार्थी तत्त्वों द्वारा धर्म का दुरुपयोग माना जा सकता है। इस देश की अधिकांश जनता अशिक्षित एवं सरल है। इस तथ्य का पूरा लाभ स्वार्थी तत्त्वों द्वारा उठाया गया है। राजनीति के क्षेत्र में तो यह विशेष रूप से किया गया है। अधिकांशतः साम्प्रदायिक दंगे इसी दुष्प्रवृत्ति के परिणाम होते हैं। इस प्रकार स्वार्थी राजनीतिज्ञों एवं धर्म नेताओं ने धर्मनिरपेक्षता के नाम पर धर्म को जितनी हानि पहुँचाई उससे आज का समाज अस्त-व्यस्त हो गया है। प्रत्येक धर्म के लोगों को आज यह लग रहा है कि देश में उनके धर्म की उपेक्षा हो रही है, चाहे वे अल्पसंख्यक हों अथवा बहुसंख्यक। इस प्रकार संविधान में व्यक्त भावना पूरी तरह से ध्वस्त हो गयी है और धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त केवल संविधान का प्राविधान ही बन कर रह गया है।

अब समय आ गया है कि “धर्मनिरपेक्षता” के सिद्धान्त की व्याख्या नये परिप्रेक्ष्य में की जाए। सर्वप्रथम तो समाज के लिए धर्म की आवश्यकता को स्वीकार किया जाना चाहिए और धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या की जानी चाहिए। धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य “कोई धर्म न मानो” के स्थान पर “कोई भी धर्म मानो” होना चाहिए। प्रत्येक धर्म के प्रगतिशील विचारकों को प्रोत्साहित किये जाने की आवश्यकता है, जिससे वे अपने धर्म की वैज्ञानिक व्याख्या करके उसमें समन्वय स्थापित कर सकें। आज संचार के इतने माध्यम हैं कि असानी से प्रत्येक व्यक्ति तक संदेश पहुँचाया जा सकता है। राज्य के नियंत्रण में संचार के माध्यमों से यदि विभिन्न धर्मों के मूल सिद्धान्त का प्रसारण किया जाय तो विभिन्न धर्मों के बीच अनेक शंकाये दूर होंगी और आपसी सौहार्द बढ़ेगा। हाँ, ऐसा करते समय पूर्ण निष्पक्षता का परिचय दिया जाना चाहिए। यह एक कठिन कार्य अवश्य है, किन्तु इसके दूरगामी प्रभावा

दूसरी ओर किसी धर्म विशेष को धार्मिक स्वतंत्रता के नाम कोई भी ऐसी छूट नहीं दी जानी चाहिए जिसका राष्ट्र, समाज अथवा किसी अन्य धर्म के लोगों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़े। अब तक के अनुभवों के आधार पर यह बात स्पष्ट है कि लोग न्यायसंगत बात का कभी विरोध नहीं करते चाहे उसका उन पर प्रतिकूल प्रभाव ही पड़े। किन्तु जब कोई ऐसा कदम उठाया जाता है, जिसको न्यायपूर्ण नहीं कहा जा सकता हो, तो उसका प्रतिकूल प्रभाव अवश्य पड़ता है और जिसके पक्ष में वह कदम उठाया गया हो, अंत में उन्हें भी हानि होती है। अतः तुष्टीकरण की नीति पूरी तरह समाप्त की जानी चाहिए। इस तथ्य को यदि अभी भी न समझा गया तो अत्यन्त विलम्ब हो जायेगा।

इस सम्बन्ध में कुछ चर्चा बहुसंख्यकों व अल्पसंख्यकों के धर्मों के संबंध में की जा सकती है। अल्पसंख्यकों में एक असुरक्षा की भावना होना स्वाभाविक है, चाहे वह किसी भी क्षेत्र में हो। अतः इस दृष्टि से बहुसंख्यकों का दायित्व बढ़ जाता है। सौभाग्य से इस देश में बहुसंख्यकों के धर्म की जड़ें इतनी गहरी हैं कि उन्हें किसी प्रकार की हानि की आशंका नहीं होनी चाहिए। यह धर्म अपने आप में इतना उदार रहा है कि इसमें संकीर्णता का कोई स्थान नहीं है। यदि ऐसे धर्म द्वारा संकीर्णता दिखाई जाती है तो वह मुख्यतः आन्तरिक कमजोरियों का परिणाम है, जिन्हें दूर किया जाना चाहिए। इतना अवश्य है कि बहुसंख्यकों द्वारा अपने धर्म के बारे में चिन्तित होना इस बात का द्योतक है कि धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त का पालन ठीक भावना से नहीं हुआ है। उस सीमा तक बहुसंख्यकों की अप्रसन्नता को गंभीरता से लिया जाना चाहिए। यदि बहुसंख्यकों को इस बात का विश्वास हो जायेगा तो उनकी संकीर्णता स्वयं समाप्त हो जायेगी। वे भी सामाजिक वास्तविकता को समझते हैं और भलीभाँति जानते हैं

कि इस सामाजिक ढांचे में सभी धर्मों के लोगों का साथ-साथ रहने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं है। स्वतंत्रता प्राप्ति के समय देश का विभाजन यदि इस समस्या का समाधान नहीं कर सका तो और विभाजन किस प्रकार कर सकता है। महात्मा गांधी उसी समय इस बात को समझते थे, अतः उन्होंने विभाजन का कड़ा विरोध किया था। इस प्रकार धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त का कोई विकल्प हमारे राष्ट्र के लिए नहीं है।

अब प्रश्न उठता है कि धर्मनिरपेक्षता क्या केवल एक सामाजिक अनिवार्यता है अथवा राष्ट्र के विकास के लिए भी आवश्यक है। इसके लिए हम स्वयं अपने अनुभवों व अन्य राष्ट्रों के अनुभवों को देख सकते हैं। जब-जब शासकों ने धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त का पालन किया, तब-तब देश का विकास तेजी से हुआ। यदि प्राचीन काल के इतिहास का अध्ययन किया जाय तो जानकारी होती है कि उस समय धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त का पालन पूर्ण रूप से होता था। किसी धार्मिक विवाद का विवरण अशोक, चन्द्रगुप्त, हर्ष आदि के शासन काल में नहीं मिलता। वे राज्य अपनी आर्थिक व सामाजिक सम्पन्नता के लिए आज भी चर्चा का विषय है। मध्यकालीन युग में भी अकबर व औरंगजेब के शासनों की तुलना हम इस दृष्टि से कर सकते हैं। अकबर ने धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त का पालन किया और “दीन-ए-इलाही” के रूप में धर्मनिरपेक्षता की नई व्याख्या की। अकबर का शासनकाल अपनी सुख-समृद्धि के लिए आज भी जाना जाता है। दूसरी ओर औरंगजेब की कट्टरता की नीति मुगल शासन के अन्त का कारण बनी। औरंगजेब की अधिकांश शक्ति दूसरे धर्मों के साथ संघर्ष करने में ही व्यय हुई उसी प्रकार आधुनिक युग में भी जो देश कट्टरता की नीति अपना रहे हैं, वे आर्थिक व सामाजिक दृष्टि से पिछड़ रहे हैं। ऐसे देशों की

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में छवि धूमिल होती है। ऐसे अनेक उदाहरण सामने हैं, जहाँ कुछ देश विकास की चरम सीमा पर पहुँच कर भी धार्मिक कट्टरता के कारण इतने पिछड़ गये हैं कि आम नागरिक के लिए सामान्य जीवन व्यतीत करना कठिन हो गया है।

भारत राष्ट्र के विकास के लिए तो धर्मनिरपेक्षता का महत्त्व और बढ़ जाता है। हमारा सामाजिक ढांचा इस प्रकार है कि विभिन्न धर्मों के लोग एक-दूसरे से अनेक प्रकार से जुड़े हैं। उनके अलग-अलग अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। जब कभी किसी बिन्दु पर इस प्रकार का प्रयास किया गया है, राष्ट्र को भारी कीमत चुकानी पड़ी है और राष्ट्र प्रगति के पथ पर पिछड़ा है। हमारा राष्ट्र अभी विकासशील राष्ट्रों की श्रेणी में आता है और इसके लिए किसी भी क्षेत्र में पिछड़ना अत्यन्त घातक है। विश्व भर में प्रगति इतनी तेजी से हो रही है कि अल्प समय का ठहराव भी देश को बहुत पीछे कर देता है। हमारे राष्ट्र की अन्य समस्याएँ इतनी विविध एवं विकट हैं कि धर्म के नाम पर विवादों का उठना आत्महत्या के समान होगा। धार्मिक विवादों के कारण राष्ट्र को जो कीमत चुकानी पड़ रही है, उससे हम सब परिचित हैं यह कीमत तो केवल दिखाई देने वाली है, किन्तु जो कीमत दिखाई नहीं देती है, वह उससे कहीं अधिक है। इससे न केवल हम अपने को पीछे ढकेलते हैं, बल्कि गिरती अन्तर्राष्ट्रीय छवि के रूप में राष्ट्र को भारी कीमत चुकानी पड़ती है। इसका भी परोक्ष एवं अपरोक्ष रूप से राष्ट्र के विकास पर अत्यन्त प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

हमारा राष्ट्र धर्म के नाम पर पहले ही बड़ी कीमत दे चुका है। यह बात इतनी स्पष्ट है कि किसी प्रकार के आंकड़े देने की आवश्यकता नहीं है। आज हम आर्थिक दृष्टि से इतना पिछड़ चुके हैं कि निकट भविष्य में स्थिति में सुधार होना कठिन

है। इस सब स्थिति के लिए धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त पालन में संकीर्णता का बहुत योगदान है। विडम्बना तो यह है कि जो लोग संकीर्णता का लाभ उठाना चाहते हैं, अंत में वे भी इसके दुष्प्रभाव का कोपभाजन बनते हैं।

इन सब बातों से क्या यह निष्कर्ष निकाल लिया जाय कि राष्ट्र का अब कोई भविष्य नहीं रह गया है। ऐसा कदापि नहीं है। हमारे समाज की जड़ें अभी बहुत मजबूत हैं, आज समाज का प्रत्येक वर्ग राष्ट्र की समस्याओं को लेकर चिन्तित है। यह इस बात का द्योतक है कि हम स्थिति को ठीक करना चाहते हैं। यह मानना कि इस देश में विभिन्न धर्मों के लोग एक साथ नहीं रह सकते, कदापि उचित नहीं है। जो समस्या इतनी विकराल दिखाई देती है, वह कुछ ही लोगों के बीच में है, जिनको स्वार्थी तत्त्वों ने उत्तेजित करके अपनी स्वार्थ-पूर्ति का प्रयास किया है। अधिकांशतः विभिन्न धर्मों के लोग सौहार्दपूर्ण वातावरण में साथ-साथ रहते हैं। अतः यह सोचना कि धर्मनिरपेक्षता का सिद्धान्त हमारे राष्ट्र में सफल नहीं हो सकता, गलत है। इतना अवश्य है कि धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त का सही भावना से पालन तभी हो सकता है, जबकि राष्ट्र सशक्त हो और शासक तुष्टीकरण की नीति न अपना कर न्यायपूर्ण नीति अपना सकें। इतना ही नहीं धर्म की आड़ में जो लोग स्वार्थपूर्ति में लगे हैं, उनसे कड़ाई से निपटने की आवश्यकता है, वे चाहे जिस धर्म से संबंध रखते हों। इस प्रकार ये दोनों प्रश्न एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। जहाँ एक ओर राष्ट्र के विकास के लिए धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त का पालन आवश्यक है, वहीं दूसरी ओर एक विकसित एवं सशक्त राष्ट्र ही वास्तव में धर्मनिरपेक्ष हो सकता है। यह बात अब साधारण नागरिक को समझ में आने लगी है और धर्मनिरपेक्षता की आशा बनती है।

सार्वभौमिक मानवीय मूल्य एवं मूल्य-संकट

डॉ० देवेन्द्र सिंह*
जे०पी० यादव**

प्रस्तावना—

भारतीय समाज आज एक संक्रमण के दौर से गुजर रहा है। परिवर्तन की इस तीव्र आँधी ने जहाँ जीवन के बहुतेरे मानवीय मूल्यों, आस्थाओं एवं प्रतीकों पर प्रहार किया एवं उनका माखौल उड़ाया है, वहीं एक पूरी की पूरी पीढ़ी को परम्परा एवं आधुनिकता, जड़ता एवं गतिमयता के द्वन्द्व में भटकने को छोड़ दिया है, जिसमें पुरानी मान्यतायें समाप्त हो रही हैं या हो चुकी हैं और नयी मान्यतायें सामने आ रही हैं। इन सभी मान्यताओं में भौतिक मूल्यों एवं अर्थ की प्रधानता है। मानवीय, नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों से लोगों का विश्वास उठ सा गया है, जिससे मूल्यों का अवमूल्यन हो रहा है, किन्तु समाज मात्र भौतिक मूल्यों से संचालित नहीं हो सकता। भौतिक जगत तो मात्र कागज के फूल जैसा है, जिसमें सहज सुगन्ध नहीं होती। इसलिए ऐसे मार्ग को खोजना आवश्यक है जिस पर चलकर मनुष्य वास्तविक शान्ति प्राप्त कर सके।

आज जब व्यक्ति जीवन में भ्रान्ति व क्लान्ति से पीड़ित है, जब समाज भ्रष्टाचार, दुराचार तथा अत्याचार की व्याधियों से ग्रस्त है, तब राजनीति मनुष्य के जीवन को उभारने व सँवारने के बजाय उसे नष्ट-भ्रष्ट कर रही है। जब विज्ञान मनुष्य की समृद्धियों को बढ़ाने के बजाय हवा, पानी तथा पृथ्वी पर जहर का बीज बो रहा है, तब निश्चय ही हमें इस बात का पूरी तरह चिन्तन व मनन करना चाहिए कि किस तरह इस स्थिति से हमें मुक्ति मिल सकती है। चूँकि शिक्षा ही वह माध्यम है जिसकी सहायता से मानव को किसी विशिष्ट दिशा में ले जा सकते हैं। अतः वर्तमान संदर्भ में शिक्षा-दर्शन

एक अनिवार्य चिन्तन बन गया है। इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता है।

मनुष्य को विशिष्ट दिशा में अग्रसर करने में शिक्षा दिशाहीन एवं निरर्थक सिद्ध हो रही है। शिक्षा संस्थाओं में अशान्ति का वातावरण है, शिक्षा व्यवस्था आज भी औपनिवेशिक परम्परा को ढो रही है, शिक्षण का स्तर गिर रहा है, शिक्षकों एवं छात्रों में अध्ययन की प्रवृत्ति समाप्त हो रही है, शिक्षा एवं मानवीय मूल्यों में सम्बन्ध-विच्छेद सा हो गया है, जिससे पूरी शैक्षिक प्रणाली का अवमूल्यन हो गया है।

आज के भारतीय समाज में जो नये संकट सर्वाधिक असंतुलन पैदा कर रहे हैं उनमें से मानक हीनता, सहकारिता में अनास्था, लोक व्यवस्था का सरकारीकरण, पृथक्ता की प्रवृत्ति, प्रतिभाओं की अपेक्षा अवांछनीयता को निर्बाध रूप से सामाजिक मान्यता, श्रम की अपेक्षा उपभोग ही जीवन का अन्तिम अभिप्राय, संवेदनहीनता, श्रेष्ठ परम्परागत मानवीय मूल्यों के प्रति उदासीनता, शिक्षा को मात्र रोजगार एवं साक्षरता तक सीमित करके इसके सामर्थ्य को न्यून करना, धन की सर्वोच्चता एवं श्रेष्ठता, विश्वसनीयता का संकट तथा शिक्षा का राजनीतिकरण आदि प्रमुख हैं। यद्यपि एक विचारक ने वर्तमान शिक्षा प्रणाली की बहुत आलोचना की है, किन्तु उन्होंने पाश्चात्य चिंतक इवान डी इलिच एवं रेमर जैसी अति कठोर स्थिति नहीं अपनायी। वे नहीं चाहते कि भारत का वर्तमान ढाँचा बिल्कुल तोड़ डाला जाये, जड़ से उखाड़ फेंका जाय और पुनः प्रारम्भ से बनाया जाय क्योंकि न तो यह सम्भव है और न ही बुद्धि संगत। क्योंकि प्रमाणीकरण को

* रीडर, शिक्षा संकाय, सतीश चन्द्र कालेज, बलिया (उ०प्र०)

** शोध छात्र, शिक्षा संकाय, सतीश चन्द्र कालेज, बलिया (उ०प्र०)

इवान इलिच एक निषेधात्मक प्रक्रिया के रूप में लेते हैं, लेकिन भारतीय संदर्भ में आजकल प्रमाणीकरण को गुणवत्ता के साथ जोड़ दिया गया है और ऐसा प्रतीत होने लगा है कि प्रमाणीकृत शिक्षा ही मात्र शिक्षा है। प्रमाणीकृत शिक्षा की दुर्बलतायें पश्चिम के विकसित राष्ट्रों में स्पष्ट कुप्रभाव छोड़ रही हैं, परन्तु भारत में इसके प्रति आकर्षण है। यहाँ इवान इलिच वर्तमान भारतीय शैक्षिक संरचनात्मक स्वरूपों में अप्रासंगिक प्रतीत होते हैं। जबकि भारतीय विचारक शैक्षिक सुधार एवं नवाचार के पक्षधर होने के कारण भारतीय शैक्षिक संदर्भ में प्रासंगिक हैं। भारतीय चिन्तक चाहते हैं कि पूर्व विचारों की पुरानी घिसी-पिटी या जड़वत अभ्यासमालायें निकाल दी जायें तथा उनके स्थान पर संरचनात्मकता, सृजन, संस्कार, नवोनीकरण मेल-जोल, मेल मिलाप और आध्यात्मिकता का प्रवेश कराया जाये जिससे जीवन मूल्यों और गुणवत्ता का पदार्पण शिक्षा प्रणाली में हो सके। अतः गाँधी, टैगोर, अरविन्द जैसे भारतीय चिन्तक शिक्षा में गुणात्मक पुनर्निर्माण लाना चाहते हैं न कि पूर्णतः निर्विद्यालयीकरण जिसका आधार आध्यात्मिक श्रेष्ठता एवं सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों का संवर्द्धन है।

भारतीय संदर्भ में टैगोर, विवेकानन्द, अरविन्द और गाँधी जैसे शिक्षा चिंतकों ने जिन दार्शनिक पक्षों को गूढ़ता एवं सूक्ष्मता से परखा एवं विवेचित किया है उसी को वर्तमान संदर्भ में पुनर्परिभाषित एवं पुनर्विवेचित करने की आवश्यकता है। एक चिन्तक का शिक्षा-दर्शन भारत देश के लिए ही नहीं बल्कि समूचे विश्व के लिए कल्याणकारी हो सकता है। आज जो समस्यायें हैं, वे चाहे शैक्षिक, आर्थिक या राजनैतिक हों, इन सभी में हमारी स्वयं की कमजोरी उजागर होती है। सच तो यह है कि हम मात्र कानूनी संरक्षण पर ही निर्भर रहे हैं शिक्षा-दर्शन के सम्यक् विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता

है कि विचारकों ने शिक्षा और व्यक्ति के जीवन की गुणवत्ता को एक दूसरे का पर्याय माना है। उन्होंने व्यक्ति की सर्वोच्च नैतिकता के विकास के उपकरण के रूप में शिक्षा को स्वीकार किया है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि स्वावलम्बी, सच्चरित्र, विनयशील, करुणायुक्त, दयावान, अहिंसक, प्रेम, शान्ति, सह अस्तित्ववादी, लोक कल्याणकारी आदि गुणों से युक्त मानव का निर्माण शिक्षा ही कर सकती है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारतीय चिंतकों की शिक्षा विचारधारा एक क्रियात्मक जीवन-दर्शन है, जो समाज शास्त्रीय आधार पर टिका है, जिसमें आदर्शवाद, यथार्थवाद, पुनर्निर्माणवाद एवं भविष्यवाद का सम्मिश्रण है एवं जिसका आधार सार्वभौमिक मानवीय मूल्य है।

भारतीय शिक्षा-दर्शन में व्यक्ति की अनुभवात्मक एवं अभिव्यक्तात्मक दोनों ही प्रकार की क्षमताओं के विकास को महत्त्व दिया गया है। विचारकों ने प्रत्येक प्रकार की दुर्बलता, संकीर्णता तथा असहायपन की स्थिति को दूर करने में शिक्षा की उपादेयता को ठीक ढंग से समझा है। इसलिए उनका मानना है कि शिक्षा मात्र जीने के लिए ही नहीं वरन् जीवन है। विचारकों की स्पष्ट राय है कि समुदाय के लिए अप्रासंगिक व्यक्ति उच्च उपाधि प्राप्त करने के बाद भी सच्चे अर्थों में शिक्षित नहीं कहा जा सकता। दर्शन में लोकतन्त्रात्मक सार्वभौमिक मानवीय मूल्यों, सत्य, धर्म, शान्ति, प्रेम, अहिंसा की पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा की गयी है। विचारकों के अनुसार शैक्षिक लक्ष्यों का संदर्भ समाज है। पाठ्यक्रम में उन्हीं बातों को सम्मिलित किया जाये जिनसे व्यक्ति आत्म निर्भर हो सके एवं स्वावलम्बन के महत्त्व को समझकर सेवा की भावना विकसित कर सके। शारीरिक श्रम और मानसिक क्रियाओं के बीच समन्वय होना आवश्यक है। केवल उपाधि, लिपि एवं भाषा व्यक्ति के शिक्षित होने के मानक नहीं हैं।

सकते। मूल्य बोध, कर्तव्य परायणता तथा संवेदनशीलता अधिक स्वीकार्य मूल्य हैं। शिक्षा-दर्शन विभिन्न कौशलों का समुच्चय है। भारतीय चिन्तकों के शिक्षा-दर्शन में शैक्षिक अवसरों की समानता का सिद्धान्त पूर्ण रूप से परिलक्षित होता है। विचारकों ने अलग वर्ग के लिए अलग विद्यालयों अथवा किसी प्रकार के पृथक्करण को स्वीकार नहीं किया है। राजा एवं रंक को एक ही प्रकार की कक्षा में बैठने, निःशुल्क शिक्षा तथा एक प्रकार की वेष-भूषा धारण करने की संस्तुति प्रदान कर विचारकों ने समाज और प्रकृति से बालक और व्यक्ति को जोड़ने का प्रयास किया है। यही कारण है कि दर्शन के अनुसार शिक्षण विधि भी वही प्रासंगिक है जिससे सरलता एवं सहजता पूर्वक किसी पाठ्य विषय को सुग्राह्य बनाया जाये। विचारकों का अन्तर्विषय सम्बन्ध का उपागम केवल शिक्षण में ही नहीं अपितु अनुसंधान कार्य में भी प्रासंगिक है। पढ़ाने तथा सीखने में शैक्षिक नवीनताओं को प्रोत्साहित करने के लिए भी पर्याप्त अवसर होना चाहिए। भारतीय चिन्तक की शिक्षण पद्धति स्वाभाविकता पर केन्द्रित है न कि कृत्रिमता पर। बालक स्वक्रियाओं द्वारा आत्मावलोकन करते हुए अनुशासित हो जायेगा। भय अथवा दण्ड से उत्पन्न अनुशासन विचारकों के अनुसार अनुशासन है ही नहीं। शिक्षण विधि कथनोन्मुखी न होकर कर्तव्योन्मुखी है। निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि भारतीय दर्शन सत् चित् आनन्द की ओर उन्मुख है तथा इन श्रेष्ठ मूल्यों के सहायक मूल्यों के रूप में संयम, स्वावलम्बन, श्रमशीलता, सहनशीलता, शान्तिप्रियता, शोषणविहीनता आदि मूल्य हैं।

शिक्षा में मानवीय मूल्य—

भारतीय विचारकों ने मानवीय मूल्यों के अवमूल्यन एवं शिक्षा को मूल्योन्मुखी बनाने के लिए सार्वभौमिक शिक्षा में मानवीय मूल्य का प्रतिपादन

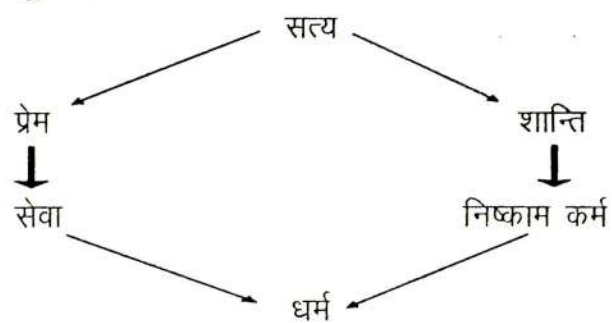
किया है। इनकी संख्या पांच है। ये मानव जीवन के पांच स्तम्भ हैं। इसलिए इन्हें पंचरत्न तथा पंचशील भी कहा जाता है—

1. सत्य, 2. धर्म, 3. शान्ति, 4. प्रेम, 5. अहिंसा

उपर्युक्त पाँचों मानवीय मूल्य, मनुष्य जीवन के पाँच पक्षों से सम्बन्धित हैं।

1. शारीरिक पक्ष, 2. बौद्धिक पक्ष, 3. संवेगात्मक पक्ष
4. मनः पक्ष 5. आध्यात्मिक पक्ष

उपर्युक्त मूल्य एक दूसरे के बिना एकांगी एवं अपूर्ण हैं। मूल्यों के अन्तर्सम्बन्ध के आधार पर ही कहा जा सकता है कि प्रेम वैचारिक धरातल पर सत्य है, क्रिया आधारित प्रेम ही धर्म है, प्रेम भावात्मक धरातल पर शान्ति है और प्रेम समझ स्तर पर ही अहिंसा है। अतः मानवीय मूल्य मानवता के आधार, अन्तर्सम्बन्धित एवं अविच्छेदित हैं। सत्य ही अन्य मूल्यों का श्रोत है।



(सत्य अन्य मूल्यों के श्रोत के रूप में)

“सत्य, धर्म, शान्ति, प्रेम और अहिंसा आदि मानवीय मूल्यों के बिना शिक्षा का मूल्य शून्य है।”

—श्री सत्य साई बाबा।

आधुनिक संदर्भ में भारतीय चिन्तक श्री सत्य साई बाबा ने श्री सत्य साई उच्चतर शिक्षा संस्थान के दीक्षान्त समारोह में शैक्षिक संकटों एवं उनके समाधान पर प्रकाश डाला है जो अधोलिखित है—

1. सार्वजनिक जीवन में नैतिकता एवं आध्यात्मिक श्रेष्ठता का अभाव।

2. विभिन्न समितियों एवं आयोगों द्वारा प्रस्तावित शिक्षा के क्षेत्र में क्रान्तिकारी सुधार के कार्यान्वयन पक्ष की उपेक्षा।
3. शिक्षण संस्थाओं का विप्लव के केन्द्र के रूप में स्थापित होना।
4. व्यक्ति का अत्यधिक उपभोक्तावादी होना एवं नैतिक मानदण्डों का अवमूल्यन।
5. पुस्तकीय शिक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान का अतिकृत्रिम होना।
6. पुस्तकीय शिक्षा को ही ज्ञान का पर्याय मानना।
7. सम्पूर्ण शिक्षा प्रणाली का सर्वांगी न होकर एकांगी होना।
8. मूल्यों का अवमूल्यन।
9. प्रमाणीकृत शिक्षा एवं मानवतावादी शिक्षा उद्देश्य का द्वन्द्व।
10. धन शक्ति की सर्वोच्चता।
11. सम्पूर्ण शैक्षिक प्रणाली का राजनीतिकरण।
12. शिक्षा का समाज से पृथक्कीकरण।
13. प्रचलित शिक्षा में नैतिकता, विनम्रता एवं राष्ट्रीय चरित्र का अभाव।
14. अनिवार्य एवं निःशुल्क गुणवत्तापूर्ण शिक्षा की समस्या।
15. शिक्षा को मात्र रोजगार एवं धन प्राप्त करने तक सीमित करके इसके सामर्थ्य को न्यून करना।
16. विश्वसनीयता का संकट।

वर्तमान भारतीय शिक्षा प्रणाली संक्रमण के दौर से गुजर रही है। परीक्षा के लिए छात्रों को तैयार करना तथा विभिन्न विषयों में मूल्यांकन करना आज शिक्षा का उद्देश्य हो गया है। वर्तमान प्रणाली का दोष यह हो गया है कि इसने शिक्षा को साधन एवं साध्य दोनों बना दिया है। सूचना को ज्ञान का पर्याय कहा जाने लगा है, जिसके कारण सूचनात्मक ज्ञान में वृद्धि हो रही है लेकिन राष्ट्रीय चरित्र एवं विवेक में अवमूल्यन हो रहा है। इससे

शैक्षिक पारिस्थितिकी में असंतुलन हो रहा है एवं सम्पूर्ण शैक्षिक परिदृश्य अवमूल्यित हो रहा है। शिक्षा मूल्योन्मुख न होकर मूल्य विमुख है। शिक्षा से सार्वभौमिक मानवीय मूल्य—सत्य, धर्म, शान्ति, प्रेम, अहिंसा का पूर्णतः विलोप होता नजर आ रहा है। क्योंकि मानव जीवन की गुणवत्ता का मानवीय मूल्यों से अनन्य सम्बन्ध है। मूल्य विमुख शिक्षा प्रणाली का दुष्प्रभाव यह है कि यह भौतिकतावादी प्रवृत्तियों एवं उपभोक्तावादी समाज को प्रोत्साहित कर रही है, दूसरी तरफ एकांगी होकर आध्यात्मिकता से उदासीन होती चली जा रही है। मानव जीवन में संतुलन के लिए आध्यात्मिकता का महत्वपूर्ण स्थान है। धन की सर्वोच्चता एवं श्रेष्ठता मनुष्य को मानसिक शान्ति नहीं दिला सकती। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि सार्वभौमिक मानवीय मूल्य विहीन शिक्षा का मूल्य शून्य है, क्योंकि मूल्यों को शिक्षा से विच्छेदित नहीं किया जा सकता है। •

जीवन को सुसंस्कारिक एवं विवेकशील बनाने में शिक्षा का महत्वपूर्ण योगदान होता है। शिक्षा मानव जीवन का सबसे बड़ा आवश्यक संस्कार, सामाजिक परिवर्तन का आधार और आर्थिक उन्नति का एक सशक्त साधन है। यह हमें मनुष्यता, सहिष्णुता, नैतिकता एवं बंधुत्व का पाठ पढ़ाती है— एक नया, उन्नत और योग्य मनुष्य बनाती है।

● सम्पादकीय (कुरुक्षेत्र-2004)

वर्तमान वैश्विक समाज एवं मूल्य शिक्षा : भारतीय संदर्भ में

डॉ० आलोक गार्डिया
डॉ० दीपा मेहता

वर्तमान युग विश्व एकीकरण का युग है। तकनीकी एवं संचार क्रांति ने विभिन्न राष्ट्रों एवं संस्कृतियों को एक समान मंच पर लाकर खड़ा कर दिया है, जिस कारण वैश्विक समाज या विश्व समाज की परिकल्पना साकार हो सकी है। नित नवीन वैज्ञानिक अनुसंधान निश्चिततः जहाँ एक ओर मानव समाज को विकास एवं समृद्धि की राह पर आगे बढ़ा रहे हैं, वहीं दूसरी ओर मूल्य-क्षरण एवं मूल्य ह्रास का गंभीर संकट भी विश्व संस्कृति के समक्ष सुरसा के मुँह की तरह उपस्थित हो गया है। मूल्यह्रास की इस विकट परिस्थिति में सामान्य जन के मन-मस्तिष्क में एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि आखिर उक्त समस्या का हल क्या है?

इक्कीसवीं सदी में जबकि मूल्यों का दायरा बढ़ाकर मानवाधिकार मूल्य, राष्ट्रीय मूल्य एवं वैश्विक शांति हेतु आवश्यक मूल्यों की ओर अग्रसारित किया जा रहा है, तब राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर नैतिक चेतना जाग्रत करने की आवश्यकता है। इस पुनीत कार्य हेतु विश्व समाज पुनः प्राचीन संस्था 'शिक्षा' की ओर निहार रहा है, और यह अपेक्षा करता है कि शिक्षा प्रत्येक व्यक्ति में आवश्यक मानवीय एवं सामाजिक मूल्यों का संवर्धन करने का सशक्त माध्यम बने।

मानव मूलतः मूल्य-चेतन प्राणी है जो किसी न किसी रूप में मूल्यों से सर्वदा जुड़ा रहता है या जुड़ा रहना चाहता है। स्वामी विवेकानन्द जी ने भी कहा था कि— "शिक्षा का लक्ष्य मानव निर्माण हो।" आधुनिक युग में विवेकानन्द जी का संदेश प्रासंगिक प्रतीत होता है, परंतु वर्तमान वैश्वीकृत युग में जबकि समस्त वैश्विक मूल्य विद्यार्थियों के सामने हैं

उनके समक्ष मानसिक द्वन्द्व एवं अनिर्णय की स्थिति निर्मित हो गयी है। मूल्य-द्वन्द्व की कलुषित परिस्थिति को झटाना तथा मूल्य शिक्षा के सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक प्रत्यय से विद्यार्थियों को परिचित करवाना शिक्षा का सर्वप्रमुख कार्य हो गया है। मूल्य शिक्षा के माध्यम से भावी नागरिकों में समस्त वैश्विक मूल्यों की पहचान, विकास एवं परिमार्जन को बढ़ावा देकर ही गाँधी जी के 'रामराज्य' के स्वप्न को अमली जामा पहनाया जा सकता है।

शिक्षा का मूल्य-उन्मुखीकरण आज की परम आवश्यकता है। भावी पीढ़ी के कोमल मन मस्तिष्क में सर्वज्ञान वैश्विक मूल्य यथा— प्राणिमात्र से प्रेम, त्याग, समर्पण, अहिंसा, अनुशासन, दया, सेवा, परमार्थ, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, आदरभाव आदि का विकास करना मूल्योन्मुख शिक्षा का चरम लक्ष्य है। विद्यार्थियों में भौतिक समृद्धि एवं आध्यात्मिक उपलब्धियों के मध्य उपयुक्त सामंजस्य स्थापित करने का कार्य भी मूल्य शिक्षा के बिना असंभव ही प्रतीत होता है।

मूल्य शिक्षा के माध्यम से विद्यार्थियों में विधायक मूल्य जागृत किये जाने के साथ-साथ जीवन के प्रति एक ऐसे सकारात्मक दृष्टिकोण का सृजन करना संभव है जिसका विद्यार्थी के जीवन से प्रारंभ होकर परिवार, समुदाय, समाज, राष्ट्र एवं विश्व स्तर पर विस्तार हो सके। मूल्य शिक्षा के ही द्वारा विद्यार्थियों में विश्वास का विकास किया जा सकता है जिसके तहत मानव को मानव पर साथ ही सामाजिक संस्थाओं पर, विश्वास करना सिखाया जा सके। मूल्य शिक्षा विद्यार्थियों में यह नैतिक मत विकसित कर सकती है कि सामाजिक नियमों एवं

ढाँचे में रहते हुए भी वे कैसे स्वविकास कर राष्ट्रीय तथा वैश्विक संस्कृति के विकास में अपना अमूल्य योगदान दे सकते हैं।

इसी संदर्भ में मूल्य शिक्षा के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की नैतिक, आध्यात्मिक एवं सामाजिक जिम्मेदारी सुनिश्चित की जा सकती है, जिसके तहत समाज अपने वांछित उद्देश्यों को प्राप्त कर सकता है। आधुनिक वैश्विक समाज को वर्तमान शैक्षिक व्यवस्था एवं समस्त नागरिकों से यही अपेक्षा है कि प्रत्येक सदस्य को नैतिक रूप से अपनी जिम्मेदारी वहन करने लायक बनाया जाये, जिसकी आधुनिक युग में अत्यंत कमी है।

मूल्य शिक्षा वैश्वीकरण के परिप्रेक्ष्य में

डोकलिया (2003) के अनुसार शिक्षा, मूल्य एवं संस्कृति एक दूसरे में समाहित हैं अतः वर्तमान समय में शिक्षा की विषयवस्तु में मूल्यों को प्राथमिकता देने की महती आवश्यकता है। इसी दिशा में वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में मूल्य शिक्षा को एक अंतरविषयी प्रक्रम के रूप में स्थापित किया गया है, जिसके सामाजिक, दार्शनिक एवं मनोवैज्ञानिक पक्ष तथा घटक हैं। मूल्य शिक्षा के अंतर्गत सामाजिक नियमों, समाज-मान्य व्यवहार, महापुरुषों तथा दार्शनिकों के जीवन्त उदाहरणों का समावेश किया जाता है, जिससे विद्यार्थियों को उपयुक्त आदर्शों से प्रेरणा मिल सके।

सान्याल (1988) ने उच्च शिक्षा के नवीन संप्रत्यय नामक विषय पर आयोजित यूनेस्को के सातवें अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में अपने प्रपत्र “उच्च शिक्षा की भावी आवश्यकताएँ : विकासशील देशों के परिप्रेक्ष्य में” के माध्यम से तीन कारकों की चर्चा की जिनकी वजह से अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर शिक्षा में मूल्यों को प्राथमिकता दी जानी चाहिये। इनमें से प्रथम कारक जिसकी उन्होंने चर्चा की है, वह है—संचार तकनीकी का विकास। संचार तकनीकी के

विकास के ही कारण सूचनाओं का तीव्र गति से आदान प्रदान हो रहा है एवं विश्व के समस्त समुदायों के मूल्य एक दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं। द्वितीय कारक धार्मिक उन्माद है, जिससे समस्त विश्व प्रभावित है। नागरिकों की धार्मिक सहिष्णुता निरंतर घटती जा रही है, जिस कारण धर्म जैसा महत्त्वपूर्ण पक्ष भी मानवजीवन को सर्वोपरि में अक्षम साबित हो रहा है। सान्याल द्वारा वर्णित तृतीय कारक जैव तकनीकी एवं जैव सूचना का प्रसार है। निश्चित रूप से चिकित्सा जगत में जैव तकनीक के द्वारा वृहद् सुधार संभव हुए हैं किंतु जीन क्लोनिंग, भ्रूणहत्या, समलैंगिक शल्यक्रिया आदि भी इसके द्वारा संभव हुए हैं।

उपर्युक्त समस्त कारक विश्व जगत के साथ ही भारतीय संदर्भ में भी उपयुक्त प्रतीत होते हैं। अतः इन्हें मूल्य शिक्षा के मौजूदा ढाँचे से जोड़ने की आवश्यकता है, साथ ही वैश्विक परिवर्तनों के फलस्वरूप उपजे सांस्कृतिक एवं सामाजिक प्रदूषण की रोक हेतु भी मूल्य शिक्षा के व्यापक प्रसार की विशेष आवश्यकता महसूस की जा रही है।

भारतीय शिक्षा व्यवस्था में मूल्य शिक्षा का विकास

स्वतंत्र भारत के इतिहास में मूल्यपरक शिक्षा से संबंधित अनुशासनों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। स्वतंत्रतापूर्व मूल्य शिक्षा को न तो नीति निर्धारण में, न पाठ्यचर्या में और न ही अन्य शालेय कार्यक्रमों में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया था। सार्जेन्ट रिपोर्ट (1944) में सर्वप्रथम धर्म एवं नीतिशास्त्र को पाठ्यक्रम में महत्त्वपूर्ण आधार बनाने की बात कही गयी थी। कैब (1945) की धर्म शिक्षा समिति में भी कहा गया था कि समस्त धर्मों के मूल्यों के आधार पर आध्यात्मिक एवं नैतिक शिक्षण प्रत्येक राज्य का कर्तव्य है। तत्पश्चात् विभिन्न शिक्षाविदों में नैतिक एवं आध्यात्मिक शिक्षा से संबंधित विषयों पर निरंतर

वादविवाद जारी रहा, किन्तु किसी भी प्रकार की ठोस पहल देखने को नहीं मिली।

स्वतंत्र भारत में निर्मित समितियों एवं आयोगों ने इस विवाद को चिन्हित किया एवं तदोपरांत भारतीय सांस्कृतिक विरासत, राष्ट्रीय एकता, राष्ट्रीय समरसता एवं आधारभूत मानवीय मूल्यों को पुनर्जीवित करने को प्राथमिकता देने की बात की गई।

समानांतर रूप से भारतीय दर्शन, परंपरा एवं भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के कुछ नायकों द्वारा प्रदत्त मूल्यों को शिक्षा से जोड़ने के प्रयास को आधार दिया जाने लगा। इसी संदर्भ में सर्वप्रथम विश्वविद्यालय शिक्षा आयोग (1948-49) ने शैक्षिक एवं सामाजिक रूपांतरण के तहत आध्यात्मिक प्रशिक्षण की बात सर्वप्रथम कही। माध्यामिक शिक्षा आयोग (1952-53) द्वारा भी चरित्र विकास के लिए धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा संबंधी अनुशंसाएं दी गयीं।

धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा पर श्रीप्रकाश समिति (1960) ने आध्यात्मिक एवं नैतिक शिक्षा पर बल दिया। 1960 के दौरान ही मूल्यहास के प्रति व्यापक रूप से चिंता प्रदर्शित की गई जिसके फलस्वरूप इसी वर्ष शिक्षा मंत्रियों की बैठक में राष्ट्रीय समिति (1962) का गठन किया गया। उक्त समिति द्वारा नागरिकों में राष्ट्रीय चेतना के जागरण एवं इसे मजबूत बनाने हेतु कुल 213 संस्तुतियां शिक्षा के विभिन्न पहलुओं पर दी गयीं। इसके पश्चात मूल्योन्मुख शिक्षा पर आगामी समस्त शिक्षा प्रयासों में विशेष जोर दिया गया।

भारतीय शिक्षा के विकास में राष्ट्रीय शिक्षा नीति- 1968 एवं नवीन राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986 मील का पत्थर साबित हुई। शिक्षा आयोग (1964-66) ने मूल्य शिक्षा की उपादेयता पर वृहद् रूप से बल दिया तथा मूल्य शिक्षा को सामाजिक जिम्मेदारी सुनिश्चित करने हेतु महत्त्व दिये जाने तथा शीघ्र कार्यरूप में परिणित करने की बात

कही। महान भारतीय संतों जैसे— गुरुनानक, गौतम बुद्ध, भगवान महावीर, कबीर एवं अनेकों भारतीय मनीषियों द्वारा प्रदत्त जीवन मूल्यों— आहिंसा, शांति, सत्य, सहिष्णुता आदि को शिक्षा द्वारा विकसित करने पर बल दिया गया। विशेष रूप से शिक्षा आयोग ने विज्ञान एवं अध्यात्म को जोड़ने तथा मानव मूल्य के शिक्षण हेतु प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष शिक्षणविधियों को अपनाने पर जोर दिया।

मूल्यपरक शिक्षा की प्रकृति एवं विषयवस्तु में समय के साथ वृहद् परिवर्तन आये हैं। प्रारंभिक अवस्था में मूल्य शिक्षा को केवल नैतिक शिक्षा एवं धार्मिक चेतना से ही संबंधित माना गया, किन्तु बदलते सामाजिक तथा राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में नैतिकता का दायरा विस्तृत कर मानवीय एवं राष्ट्रीय मूल्य के समस्त पक्षों को इसमें शामिल किया गया।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1968 तथा नवीन राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986 में मूल्य शिक्षा को पुनर्जीवित करने की बात स्पष्ट रूप से कही गयी। सर्वप्रथम राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1968 में कुछ मूल घटक चिन्हित किये गये जिनके आधार पर शालेय पाठ्यक्रम में मूल्य शिक्षा का समायोजन किया जाना था। तत्पश्चात सन् 1975 में राष्ट्रीय पाठ्यक्रम ढांचा जारी किया गया, जिसमें पाठ्यक्रम के सामान्य उद्देश्यों के रूप में सामाजिक चेतना का विकास, प्रजातांत्रिक मूल्यों का विकास, सामाजिक न्याय एवं राष्ट्रीय एकता के प्रति प्रेम भाव जागृत करने की बात कही गयी। उक्त पाठ्यक्रम में मूल्यों के मूल घटक बतलाये गये, जिन्हें विद्यालय शिक्षा में प्राथमिकता दी जानी थी। इनमें समान सांस्कृतिक विरासत, मानवतावाद, समानता, प्रजातंत्र, धर्मनिरपेक्षता, लैंगिक समानता, पर्यावरण संरक्षण, सामाजिक बाधाओं का निराकरण, छोटा परिवार मानकों की स्वीकृति एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने के उद्देश्य प्रमुख हैं।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-1986 की अनुशंसाओं के आधार पर 1988 में प्रारंभिक एवं माध्यमिक शिक्षा का राष्ट्रीय पाठ्यक्रम जारी किया गया। जिसमें मूल्य शिक्षा को मूल पाठ्यक्रम का हिस्सा मानते हुए एक व्यवस्थित स्वरूप में प्रस्तुत किया गया। राष्ट्रीय शिक्षा नीति का पुनरावलोकन-1992 द्वारा भी मूल्य शिक्षा के पाठ्यक्रमीय एवं अध्यापकीय पक्षों जैसे-सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण, संवैधानिक कर्तव्य, राष्ट्रीय एकता एवं राष्ट्रीय पहचान पर बल, चरित्र निर्माण, पर्यावरण संरक्षण, राष्ट्रीय संसाधनों का संरक्षण, सम्पूर्ण विकास हेतु शिक्षा एवं वैज्ञानिक अभिवृत्ति के विकास आदि पर सविस्तृत मार्गदर्शन दिया गया।

इस प्रकार मूल्य शिक्षा भारतीय इतिहास के विभिन्न पड़ावों को पार करते हुए अपने वर्तमान स्वरूप में पहुँची है।

वैश्विक समाज में मूल्य शिक्षा के उद्देश्य

विभिन्न विद्वानों ने मूल्य शिक्षा के संबंध में कुछ प्राथमिकताओं के आधार पर उद्देश्य बतलाए हैं किंतु वर्तमान वैश्विक समाज में मूल्य शिक्षा का मुख्य उद्देश्य विद्यार्थियों में आदर्श नागरिकता एवं विश्व बंधुत्व के भाव विकसित करने से है। जन्म तो एक सामान्य मानव का होता है, परंतु शिक्षा प्रक्रिया द्वारा इस साधारण मानव को आदर्श नागरिक में बदलने हेतु द्वितीयक जन्म की आवश्यकता है। मूल्य शिक्षा का उद्देश्य विद्यार्थियों को बदलते सामाजिक, राजनीतिक परिदृश्य में समाज को वांछित शिक्षा देने हेतु अपने हिस्से की जिम्मेदारी वहन करने हेतु तैयार करना है। मूल्य शिक्षा द्वारा विद्यार्थियों में सैद्धांतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक, नैतिक, सौंदर्यात्मक आदि मूल्यों को विकसित किया जाना मुख्य उद्देश्य है। एन. वैकटय्या (2000) ने मूल्य शिक्षा के निम्न उद्देश्य बताए हैं—

1. विद्यार्थियों में कुछ आधारभूत एवं मौलिक मूल्यों

जैसे—सत्य, सहयोग, प्रेम, दया, एवं अहिंसा, साहस, समानता, न्याय, व्यक्तित्व की अस्मिता आदि विकसित करना।

2. विद्यार्थियों को उनकी वैयक्तिक एवं सामाजिक भूमिका में आदर्श एवं जिम्मेदार नागरिकता का प्रशिक्षण देना।

3. समाजवादी, प्रजातांत्रिक राष्ट्र के प्रति विद्यार्थियों में सम्मान एवं प्रेम की भावना जागृत करना तथा प्रजातांत्रिक, समाजवादी राष्ट्र के उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु विद्यार्थियों को प्रेरित करना।

4. भारतीय सामाजिक, आर्थिक पृष्ठभूमि के प्रति विद्यार्थियों में चेतना जागृत करना एवं इसके उत्थान हेतु उन्हें प्रेरित करना।

5. विद्यार्थियों के विचार एवं व्यवहार में भारतीय समाज में व्याप्त धार्मिक, भाषायी, जातीय एवं लैंगिक विभेदों के प्रति समानता का भाव जागृत कर इन भेदों को हटाने हेतु प्रेरित करना।

6. विद्यार्थियों को शिक्षा की भारतीय परम्परा के अनुरूप स्वपहचान (Self realization) के उद्देश्य हेतु प्रेरित करना। उन्हें आत्मिक व स्वविकास की ओर अग्रसरित करना।

7. विद्यार्थियों में निम्न अवधारणाओं के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण विकसित करना—

(अ) स्वयं एवं समाज के सभी सदस्यों के प्रति।

(ब) स्वदेश एवं इसकी सांस्कृतिक, ऐतिहासिक धरोहर के प्रति।

(स) अंतर्राष्ट्रीय सदभावना हेतु अन्य देशों के नागरिकों के प्रति।

(द) पर्यावरण के प्रति।

(न) समस्त धर्मों के प्रति।

वर्तमान मूल्य शिक्षा ढाँचे में उक्त समस्त उद्देश्यों को विशेष स्थान देकर भारतीय समाज वैश्वीकरण की सांस्कृतिक नैतिक चुनौतियों

शेष भाग पृष्ठ 34 पर

मूल्य-शिक्षा में विद्यालयों की भूमिका

डॉ० सुनील कुमार सिंह

प्रस्तावना

वर्तमान समय में जनमानस में साक्षरता दर 65 प्रतिशत से अधिक है। प्रारंभिक शिक्षा के सर्वसुलभीकरण का प्रयास चरमोत्कर्ष पर है एवं संभवाना है कि वर्ष 2010 तक यह लक्ष्य प्राप्त कर लिए जाएगा। इसी प्रकार माध्यमिक एवं उच्च शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्तियों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। शैक्षिक प्रयासों के फलस्वरूप शिक्षा में व्यापक प्रसार हुआ है। उच्च शिक्षा एवं गुणवत्ता पूर्ण शोध के परिणामस्वरूप आज हमारा देश विश्व में कम्प्यूटर साफ्टवेयर, अंतरिक्ष तकनीकी, मिसाइल तकनीकी आदि अनेक क्षेत्रों में अग्रणी है, परन्तु हमारे समाज की एक दूसरी तस्वीर भी है जिसके अंतर्गत कुल जनसंख्या के 26 प्रतिशत लोग गरीबी रेखा से नीचे हैं। पूर्ण जनसंख्या में 54 करोड़ से अधिक लोग युवा आयुवर्ग में हैं एवं इनमें एक बड़ी संख्या बेरोजगारों की है। यही नहीं बल्कि बहुत से लोग आतंकवाद, अलगाववाद, आंतरिक हिंसा एवं अन्य विध्वंसकारी प्रवृत्तियों में संलग्न हैं। समाज में, भ्रष्टाचार बढ़ा है। हिन्दुस्तान दैनिक (जुलाई 2005) में प्रकाशित एक सर्वे के अनुसार भ्रष्टाचार में आदान-प्रदान की जाने वाली राशि को यदि सकल घरेलू उत्पाद में जोड़ दिया जाय तो उससे राष्ट्रीय स्तर पर 1 प्रतिशत की वृद्धि हो जाएगी।

अतः हम कह सकते हैं कि शैक्षिक प्रसार तो अवश्य हुआ है, परन्तु साथ ही आज का समाज विभिन्न प्रकार के संकटों जैसे भ्रष्टाचार, हिंसा (सामाजिक, राजनैतिक), अतिभौतिकता, आदि से ग्रस्त है। क्या करना उचित है एवं क्या नहीं? इस संदर्भ में समाज में भ्रम बढ़ता जा रहा है। भौतिकता की अंधी दौड़ में मनुष्य दिग्भ्रमित होता जा रहा है।

विवेक खोता जा रहा है, जिसके कारण मानवता को पोषित करने वाले मूल्यों पर नकारात्मक प्रभाव भी दृष्टिगोचर हो रहा है।

परन्तु हम जानते हैं कि शिक्षा मूल्य विकास का एक अत्यन्त सशक्त माध्यम है। विशेषतौर पर आज के समाज में जब माता-पिता एवं समाज के पास बच्चों पर केन्द्रित करने के लिए समय कम है, ऐसे में “विद्यालयी शिक्षा” मूल्य शिक्षा का एक सशक्त माध्यम है। आज ‘डे-स्कूल’ का प्रचलन बढ़ रहा है अतः विद्यालय में व्यतीत किये जाने वाले समय में भी बढ़ोत्तरी हो रही है। आज बदलते परिवेश में भी विद्यालय एवं अध्यापक की छाप विद्यार्थी पर स्पष्ट रूप से झलकती है। आज के दौर में भी बच्चा अध्यापक के व्यवहारों की नकल करता है एवं अध्यापक द्वारा दी जाने वाली सूचना पर ज्यादा आस्था रखता है। अतः विद्यालयों की भूमिका विद्यार्थियों के मूल्य संवर्धन हेतु महत्वपूर्ण है।

प्रस्तुत पत्र में मूल्य शिक्षा का अर्थ एवं विद्यालयी स्तर पर मूल्य संवर्धन के तरीकों पर एक चिंतन प्रस्तुत करने के पश्चात विषय की समालोचना की गई है।

मूल्य एवं मूल्य-शिक्षा

मूल्य एक निर्णयात्मक शब्द है। इसका तात्पर्य, सही-गलत, उचित-अनुचित, बुरा-अच्छा, ईमानदारी-बेईमानी, खुबसूरत-बदसूरत इत्यादि से है। इन्हें हम जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से जोड़ सकते हैं। प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य कुछ न कुछ व्यवहार दर्शाता है, परन्तु जिस तरह का व्यवहार परिवार, या समाज अथवा राष्ट्र अथवा मानवता के संदर्भ में अपेक्षित है—उसे हम मूल्य की संज्ञा देते हैं। अतः इनके संदर्भ में प्रत्येक व्यक्ति को स्वविवेक द्वारा व्यवहार निर्धारित

करके आचरण में प्रदर्शित करना होता है। इस निर्णय की आधारशिला समाज द्वारा निर्धारित शैक्षिक प्रक्रिया ही होती है।

अतः मूल्य शिक्षा का तात्पर्य इस पूर्व नियोजित, शैक्षिक प्रक्रिया से है, जिसका उद्देश्य व्यक्ति में उचित दृष्टिकोण, भाव एवं चरित्र का निर्माण करना होता है। इसके अन्तर्गत व्यक्ति के सभी पक्षों (कायिक, मानसिक, आध्यात्मिक, सामाजिक, नैतिक आदि) के विकास पर समान रूप से बल दिया जाता है। यह एक विस्तृत प्रक्रिया है जिसके माध्यम से व्यक्ति का विवेक जागृत होता है एवं वह जीवन के समस्त पहलुओं पर स्वनिर्णय कर व्यावहारिक आचरण कर सकने में सक्षम होता है। अतः हम कह सकते हैं कि मूल्य शिक्षा द्वारा व्यक्ति अपने विवेक का उपयोग करने की क्षमता अर्जित करता है, एवं क्या करना है? एवं क्या नहीं? इसके लिए वह अन्य किसी पर आश्रित नहीं रहता है।

विद्यालय स्तर पर मूल्य-शिक्षा

विद्यालयों में मूल्य शिक्षा पाठ्यक्रम, पुस्तकों, शिक्षकों, कर्मचारियों एवं विद्यालय के परिवेश के माध्यम से विभिन्न रूपों में क्रियान्वित होती है।

1. मूल्य-शिक्षा का पाठ्यक्रम

वर्तमान समय में विद्यालयों में मूल्य शिक्षा के सन्दर्भ में जो बिन्दु दृष्टिगोचर होने चाहिए उनका एक चित्रण राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 में किया गया है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के भाग 3 में "राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था" के संदर्भ में कहा गया है कि हमारे संविधान में वह सिद्धान्त सम्मिलित किये गये हैं, जिनके आधार पर "राष्ट्रीय शिक्षा व्यवस्था" को स्वीकार किया गया है। इसमें एक ऐसी राष्ट्रीय पाठ्यक्रम संरचना की कल्पना की गई है, जिसमें एक "सामान्य केन्द्रिक" है साथ ही में इसमें कुछ अन्य लचीले घटक भी हैं। इसके अंतर्गत 'सामान्य केन्द्रिक' को सम्मिलित करने का मूल उद्देश्य "राष्ट्रीय पहचान"

को पोषित करना है। इसके अंतर्गत सम्मिलित किये जाने वाले तत्वों को सभी विषयों में समानरूप से पिरोना है। इनका उद्देश्य विद्यार्थियों में निम्न मूल्यों को विकसित करना है :

(i) सांस्कृतिक विरासत, (ii) समता, (iii) प्रजातंत्र, (iv) पंथनिरपेक्षता, (v) लिंग समानता, (vi) पर्यावरण संरक्षण, (vii) सामाजिक बाधाओं को दूर करना, (viii) छोटे परिवार के मानक को अपनाना, एवं (ix) वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास।

साथ ही कहा गया है कि सभी शैक्षिक कार्यक्रमों को कठोरता पूर्वक पंथनिरपेक्षता के मानकों के अनुरूप लागू किया जाय।

इसी प्रकार यह भी अपेक्षित है कि शैक्षिक कार्यक्रमों द्वारा शांति एवं अन्तर्राष्ट्रीय सद्भावना के भाव को पोषित किया जाय। इसी प्रकार समानता के भाव को विकसित किया जाय एवं जन्म के भेद से जो असमानताएँ व्याप्त हैं, उन ग्रंथियों को तोड़ा जाय एवं पक्षपात के भाव का समूल नाश किया जाय।

इस प्रकार उन सभी मूल्यों को जिन पर इस राष्ट्र का भविष्य टिका है एवं जो इस राष्ट्र के संविधान के अंतर्गत संकल्पित हैं उनका विकास विद्यालयी पाठ्यक्रम के माध्यम से किये जाने की अपेक्षा की गई है।

अतः विद्यालयों में मूल्य शिक्षा के पाठ्यक्रम के संदर्भ में निम्न बिन्दु महत्वपूर्ण हैं—

(i) मूल्य शिक्षा किसी अलग विषय के रूप में नहीं देखी जानी चाहिए।

(ii) मूल्य शिक्षा एक व्यापक सम्प्रत्यय है जिसे सभी विषयों में "कामन कोर" (सामान्य केन्द्रिक) के रूप में पिरोया जाना चाहिए। यह विषय में आंतरिक रूप से घुला-मिला होना चाहिए एवं टुकड़ों में विभक्त नहीं होना चाहिए।

(iii) मूल्य शिक्षा पाठ्यक्रम निर्माण, विषयवस्तु चयन एवं उसके विद्यालयी परिवेश में व्यावहारिक रूप से

क्रियान्वयन, पर निर्भर करती है।

(iv) सम्पूर्ण प्रक्रिया में शिक्षक एवं उसके द्वारा निर्मित परिवेश सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

2. मूल्य-शिक्षा हेतु पुस्तकें

नियोजित पाठ्यक्रम के क्रियान्वयन में प्रथम महत्त्व पुस्तकों का है। अतः पुस्तक लेखन में निम्न बिन्दुओं को ध्यान में रखा जाना चाहिए :

(i) उपयुक्त विषय वस्तु का चयन एवं इसके अंतर्गत तथ्यों का संकलन एवं प्रस्तुतिकरण पक्षपात रहित होना चाहिए। समाज के सभी वर्गों से संबंधित तथ्यों को राष्ट्र एवं समाज हित को ध्यान में रखकर प्रस्तुत किया जाना चाहिए। प्रत्यक्ष उदाहरणों— जैसे जीवन की घटनाओं, आदि को उचित स्थान दिया जाना चाहिए।

(ii) पुस्तक लेखन संविधान की मूल आत्मा के अनुरूप, मानवोचित मूल्यों को केन्द्र में रखकर, शैक्षिक उत्कृष्टता को ध्यान में रखकर किया जाना चाहिए। व्यक्तिगत, सामूहिक अथवा राजनैतिक उद्देश्य को कतई इसमें हावी नहीं होने देना चाहिए।

3. मूल्य-शिक्षा में शिक्षक एवं विद्यालय के परिवेश की भूमिका

शिक्षक 'मूल्य शिक्षा' की धुरी है। वह विद्यार्थियों के जीवन की नींव तैयार करने वाला शिल्पी है। अतः शिक्षक को स्वयं की गतिविधि एवं उसके द्वारा संचालित समस्त कार्यक्रमों (पाठ्यक्रम संबंधित एवं पाठ्येतर) में यह बिन्दु संज्ञान में रखना चाहिए। उसका प्रत्येक व्यवहार विद्यार्थी के लिए अंधेरे में उस प्रकाश बिम्ब के समान है जिसके आधार पर व्यक्ति अपना मार्ग प्रशस्त करता है। एक छोटी सी चूक भी पूरी धारा को विपरीत दिशा में मोड़ सकती है।

अतः शिक्षकों का प्रशिक्षण एवं चयन भी मूल्य शिक्षा की दिशा को नियंत्रित करता है। शिक्षकों का प्रशिक्षण एवं चयन तो एक बार होता है परन्तु वह आगामी 30-35 वर्षों तक समाज में मूल्यों के विकास

में सक्रिय योगदान देता है। इस संदर्भ में शिक्षकों को प्रदान की जाने वाली सुविधाएँ एवं सामाजिक सम्मान भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। समाज में कदम-कदम पर तिरस्कार प्राप्त करने वाला अध्यापक एवं जीविकोपार्जन के लिए मोहताज अध्यापक, नौकरशाहों के नकैल द्वारा संचालित अध्यापक मूल्य शिक्षा को किस प्रकार नियंत्रित एवं पोषित कर पायेगा, यह आधुनिक समाज को बार-बार सोचना चाहिए।

शिक्षक के अतिरिक्त विद्यालय में कर्मचारियों एवं वहाँ समय-समय पर आने वाले व्यक्तियों (बच्चों के माता-पिता, अधिकारी, समाजसेवी, राजनेता आदि) का व्यवहार जैसे उनकी कर्त्तव्यनिष्ठा, ईमानदारी, समयपालन, विद्यालय व समाज के प्रति उनका दृष्टिकोण आदि भी विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। इनके लिए भी कहीं न कहीं अध्यापक व प्राचार्य ही उत्तरदायी होते हैं। हालांकि इस संदर्भ में प्रबंधन का एवं उच्च अधिकारियों का हस्तक्षेप समय-समय पर धनात्मक व ऋणात्मक भूमिका निभाता है।

विद्यालयों में 'मूल्य-शिक्षा परिवेश निर्माण' हेतु गतिविधियाँ

विद्यालय प्रांगण में की जाने वाली प्रत्येक औपचारिक अथवा अनौपचारिक गतिविधि मूल्य संवर्धन में योगदान देती है। इस प्रकार की कुछ गतिविधियों को नीचे सूचीबद्ध किया जा रहा है—

(1) प्रतिदिन समयानुसार निम्न कार्यों को किया जाना चाहिए :

—क्रमबद्ध तरीके से उपस्थिति लेना।

— प्रार्थना का आयोजन (इसमें मानवीय मूल्यों पर केन्द्रित प्रार्थना होनी चाहिए। विभिन्न धर्मों की मानवीय मूल्यों पर केन्द्रित प्रार्थना ही सम्मिलित की जानी चाहिए।)

— ध्यान करना व कराना चाहिए।

— दैनिक चिंतन (कहावतों, उक्तियों, कथनों के रूप में)

‘आज का विचार’ के रूप में लिखा जाना चाहिए।

(2) साप्ताहिक शारीरिक स्वास्थ्य निरीक्षण होना चाहिए।

(3) वेशभूषा निरीक्षण होना चाहिए।

(4) सामान्य सभा का सप्ताह में कम से कम दो बार आयोजन होना चाहिए। इसमें राष्ट्रगान एवं इससे संबंधित मूल्यों को सिखाया जाना चाहिए। सामाजिक मूल्यों एवं महापुरुषों के जीवन की चर्चा होनी चाहिए। धार्मिक पुस्तकों में वर्णित मानवीय मूल्यों पर चर्चा होनी चाहिए। सामयिक मुद्दों पर चिंतन किया जाना चाहिए।

(5) एन.सी.सी., एन.एस.एस., स्काउट-गाईड कार्यक्रमों को अनिवार्यतः लागू किया जाना चाहिए।

(6) विद्यार्थियों में वरिष्ठता-कनिष्ठता के आधार पर आदर भाव विकसित करना चाहिए।

(7) विभिन्न धार्मिक उत्सवों का आयोजन भी किया जाना चाहिए, जिससे सभी धर्मों के विषय में सामान्य जानकारी बढ़े एवं सामाजिक समरसता बढ़े।

(8) राष्ट्रीय पर्व व महापुरुषों की जयन्तियों के अवसर पर सार्वजनिक अवकाश न करके इन अवसरों पर विधिवत विद्यालय में कार्यक्रम आयोजित करना चाहिए।

(9) राष्ट्रीय आपदा/विपत्ति आने पर विद्यालयों को सक्रिय होकर लोगों को संकट की घड़ी में सहयोग देना चाहिए।

(10) विशेषतौर पर प्रतिदिन कक्षाध्यापकों को सक्रिय रूप में अपनी कक्षा के विद्यार्थियों की समस्याओं को सुनना चाहिए एवं उनकी प्रगति का मूल्यांकन भी करना चाहिए।

(11) विभिन्न प्रकार की खेलकूद व पाठ्येतर गतिविधियों में सभी विद्यार्थियों की सहभागिता सुनिश्चित करनी चाहिए।

इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार की रोचक गतिविधियों के द्वारा मूल्यों का संवर्धन किया जा सकता है। यह शिक्षक की रुचि एवं शिक्षक को मिलने वाले प्रोत्साहन पर निर्भर करती है।

समालोचना

किसी भी समाज में मूल्यों के प्रति सतत चिंतनशील रहना, समाज के सकारात्मक पक्ष को दर्शाता है। प्रत्येक कालक्रम में विभिन्न अभिकरणों/संस्थाओं के माध्यम से तात्कालिक अपेक्षाओं के अनुरूप मूल्यों का संरक्षण व संवर्धन किया जाता है। वर्तमान परिदृश्य में हमें एक प्रजातांत्रिक समाज के निर्माण हेतु उत्तरदायित्व निर्वहन करने योग्य नागरिकों का निर्माण करना है। इस पुनीत कार्य हेतु वर्तमान में जितनी भी सामाजिक संस्थाएँ कार्यरत हैं उनमें विद्यालय सर्वाधिक सशक्त संस्था प्रतीत होती है। नागरिकों में सामाजिक, सांस्कृतिक, सौन्दर्य, अध्यात्म आदि से संबंधित मूल्यों का एक समन्वित विकास आवश्यक है। अधिकांश विचारकों ने नैतिक मूल्यों के विकास पर सर्वाधिक/अधिकांश महत्त्व दिया है। यह मूल्य हैं— सत्य, दया, समानता, अहिंसा, परोपकार आदि। परन्तु मूल्यों के विकास के लिए एक “नैतिक नेतृत्व” की आवश्यकता होती है। हमारे पूर्व राष्ट्रपति श्री ए.पी.जे. अब्दुल कलाम के अनुसार नैतिक नेतृत्व हेतु दो आवश्यकताएँ हैं— (i) इसके लिए मानवता की सेवा एवं सुधार हेतु सशक्त सपने/दृष्टि होनी चाहिए एवं (ii) स्वयं सही कार्य करने व दूसरे को सही कार्य करने के लिए प्रभावित करने की इच्छाशक्ति होनी चाहिए। इस कार्य में हमारी समृद्ध सांस्कृतिक विरासत सशक्त योगदान दे सकती है।

निष्कर्षतः

हम देखें तो पायेंगे की वर्तमान संकटग्रस्त समाज को विद्यालय ही मूल्यों से ओत-प्रोत नागरिक दे सकते हैं एवं शिक्षक एक सशक्त नैतिक नेतृत्व प्रदान करने का कार्य कर सकता है। यही सोचकर संभवतः डॉ. दौलत सिंह कोठारी की अध्यक्षता तैयार की गई रिपोर्ट में लिखा गया था कि **भविष्य का निर्माण इसकी कक्षाओं में होना चाहिए**।

मूल्यपरक शिक्षा एवं अध्यापकों की भूमिका

डॉ० सुजाता साहा

शिक्षा और जीवन अपरिवर्तनीय शब्द हैं। जब तक जीवन है, तब तक शिक्षा में विराम नहीं है। इस सन्दर्भ में अध्यापकों की भूमिका प्रत्येक युग में अत्यन्त महत्वपूर्ण रही है। शिक्षा पद्धति भी इससे अछूती नहीं है और शिक्षा प्रणाली की गुणवत्ता का स्तर उसके अध्यापकों पर निर्भर करता है। शिक्षा के माध्यम से अध्यापक राष्ट्रीय विकास को दिशा देता है।

सर्वोपरि शिक्षक का कार्य यह सुनिश्चित करना है कि विद्यार्थी जो कुछ सीखता है, वह उसके लिए अच्छा और उपयोगी अर्थात् मूल्यपरक है और वह अपनी मानसिक शक्तियों को कुशलतापूर्वक सीखने में लगा रहा है। शिक्षक अपने अध्यापन-कौशल द्वारा विद्यार्थी का मार्ग-दर्शन करता है। इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि शिक्षक अपने व्यक्तिगत जीवन, रहन-सहन, सोचने-विचारने और काम करने के तरीके से विद्यार्थियों के समक्ष स्वयं उदाहरण बन जाता है। वह विद्यार्थी की शारीरिक और बौद्धिक क्षमताओं, कल्पना और अन्तर्बोध, सूझ-बूझ और सृजनशक्ति के उपयोग के लिए प्रेरणा प्रदान करता है।

बालक-बालिका के सर्वांगीण विकास के लिए ही शिक्षक का कार्य निर्दिष्ट होता है। इसके लिए उसे शिक्षण-सिद्धान्तों का ध्यान रखना पड़ता है; कक्षाकक्ष में उत्पन्न होने वाली समस्याओं का हल ढूँढ़ना पड़ता है। साथ ही उसे विभिन्न प्रकृति के विद्यार्थियों से अंतर्क्रिया करनी होती है। यह समस्त कार्य वह दक्षतापूर्वक तभी कर सकता है, जब वह विभिन्न शिक्षण-सिद्धान्तों एवं विधियों के साथ-साथ व्यक्तिगत अनुभवों के आधार पर भी समय, समाज एवं परिस्थिति के अनुसार अपने

शिक्षण में हेर-फेर करने का सामर्थ्य रखता हो। तभी उसके विद्यार्थी आधुनिक युग की नवीन चुनौतियों का सामना करने में समर्थ हो सकते हैं।

भावात्मक पक्ष का विकास :

आधुनिक शिक्षा पद्धति विद्यार्थी के संज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक—दूसरे शब्दों में—Head, Heart एवं Hand—इन तीनों के विकास का लक्ष्य तो लेकर चलती है, किन्तु व्यवहार में इसमें ज्यादातर बौद्धिक पक्ष पर ही बल दिया जाता है। फलतः भावात्मक या हृदय पक्ष का विकास उपेक्षित रह जाता है। विद्यालय और बाद के जीवन में सफलता हेतु संवेगात्मक परिपक्वता आवश्यक है। आधुनिक समय में उच्च बुद्धि-लब्धि अर्थात् आई. क्यू. के साथ उच्च संवेगात्मक लब्धि (ई.क्यू.) एवं संवेगात्मक साक्षरता की महत्ता पर कहीं अधिक बल दिया जा रहा है।

अतः आधुनिक युग में अध्यापकों का कार्य यह भी है कि वह अपने विद्यार्थियों के भावात्मक पक्ष का परिष्कार करें एवं उन्हें संवेगात्मक रूप से परिपक्व नागरिक बनने में सहायता करें।

निर्देशनकर्ता की भूमिका :

ज्ञान के विस्फोट के इस युग में विद्यार्थी अपनी योग्यतानुसार ज्ञानार्जन कर सकें तथा अर्जित ज्ञान का सदुपयोग कर सकें—यह कार्य अध्यापकों के सहयोग के बिना सम्भव नहीं है। आधुनिक छात्र पूर्व के छात्रों की तुलना में काफी परिपक्व हैं। संचार और सूचना क्रान्ति के इस युग में सूचना प्राप्त करने के लिए उसे अनेक माध्यम उपलब्ध हैं। आज के शिक्षक का कार्य वस्तुतः विद्यार्थी को उपलब्ध विकल्पों में से सर्वोत्तम का चयन कर सीखने में सहायता करना एवं शिक्षा के मानवीय

पक्ष को बरकरार रखना है।

विशिष्टीकरण के प्रचलन के कारण अब अनेक नवीन विषयों का जन्म हो गया है। उन अनेक विषयों में से स्वयं के लिए उपयुक्त विषय चुनने की समस्या आज की माध्यमिक स्तरीय शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त विद्यार्थी के लिए एक बड़ी चिन्ता का विषय है। न सिर्फ शैक्षिक चयन, बल्कि व्यावसायिक चयन सम्बन्धी समस्याओं के सफल समाधान में भी आधुनिक शिक्षक की महत्वपूर्ण भूमिका है। विद्यार्थियों के समक्ष अनेक शैक्षिक और व्यावसायिक विकल्प उपलब्ध रहते हैं। उनमें से उस किसी एक को चुनना होता है। पारिवारिक दबाव अथवा स्वनिर्णय की परिपक्व क्षमता के अभाव के कारण वह इस क्रम में ऐसी गलतियाँ कर जाता है, जो उसके भविष्य को नकारात्मक रूप से प्रभावित कर सकती हैं। इस क्षेत्र में अपने अनुभवों का उपयोग कर अध्यापक वर्ग निश्चय ही बेहतर मार्गदर्शक की भूमिका निभा सकता है।

विद्यार्थियों की योग्यताओं का अधिकतम सर्वांगीण और समन्वित विकास तभी सम्भव है, जब उसे स्वयं की योग्यताओं एवं सीमाओं की यथेष्ट समझ हो। साथ ही, वह अधिगम को बोझ न समझे। एक निर्देशनकर्ता के रूप में आधुनिक शिक्षक यह भूमिका भी अदा कर सकता है। शिक्षण वस्तुतः दक्षता निर्माण की प्रक्रिया है। शिक्षक अपने विद्यार्थियों को उनकी संभावनाओं की पहचान करने में सहायता करता है तथा स्वतंत्र चिन्तन की योग्यता विकसित करने में मददगार सिद्ध होता है।

प्रासंगिक मूल्यों का संचार करना :

ज्ञान के अत्यधिक प्रसार के कारण आज शिक्षा विशिष्टीकृत ज्ञान के स्थानांतरण मात्र तक ही सीमित रह गयी है। मानवीय मूल्य कहीं पीछे छूट गए हैं। आधुनिक युग में वैश्वीकरण के न सिर्फ दूरगामी आर्थिक परिणाम स्पष्ट हुए हैं अपितु हमारी

नैतिकता भी प्रभावित हुई है। इस सन्दर्भ में विश्वविख्यात अर्थशास्त्री अमर्त्य सेन ने ठीक ही कहा है— “निरंतर वृद्धिशील वैश्विक अर्थव्यवस्था आधारभूत नीतिशास्त्र एवं सामाजिक प्रक्रियाओं के लिए भी एक वैश्विक उपागम का आह्वान करती है।”

पाठ्यक्रम के बोझ के साथ-साथ शैक्षिक तथा व्यावसायिक प्रतिस्पर्धा में भी बढ़ोत्तरी हुई है। प्रतिस्पर्धा—अर्थात् अनेक लोगों द्वारा सीमित मात्रा में उपलब्ध लक्ष्य को प्राप्त करने की कोशिश, जहाँ अनेक की असफलता की कीमत पर कुछ को सफलता मिलती हो। इस दुर्लभ सफलता को पाने के क्रम में आधुनिक मनुष्य उचित और अनुचित का विवेक विस्मृत कर चुका है। सर्वत्र प्रदर्शनप्रियता का बोलबाला है। अत्यन्त संघर्षमय जीवन में व्यक्ति वस्तुतः मशीन का एक पुर्जा मात्र बनकर रह गया है, जो नित्यप्रति असंख्य आशाओं एवं आकांक्षाओं से बँधा अपार सुख-समृद्धि को बटोरने के लिए प्रयासरत है। उसे यह पता नहीं कि इस होड़ में समाज किस ओर जा रहा है। करोड़ों कमाने वाले भय और निराशा में जी रहे हैं। समय-समय पर वेतन-वृद्धि के बावजूद विरोध-प्रदर्शन बढ़ते ही जा रहे हैं। शिक्षा का क्षेत्र भी इस प्रवृत्ति से अछूता नहीं है। नए प्रयोग अनुसंधानों के बावजूद विद्यार्थियों में असंतोष, क्रोध, प्रतिशोध, अध्ययन के प्रति अरुचि इत्यादि भाव बढ़ते जा रहे हैं। इसका कारण छात्रों में कतिपय मूल्यों की कमी है। इस क्षेत्र में भी अध्यापकों की भूमिका पर विचार करने की आवश्यकता है।

यह सर्वमान्य है कि आधुनिक शिक्षक का एक महत्वपूर्ण दायित्व मूल्यपरक शिक्षा प्रदान करना भी है। मूल्यकेन्द्रित शिक्षा की आवश्यकता और अनिवार्यता को आधुनिक शिक्षा प्रणाली में सर्वत्र मान्यता मिली है। 1986 ई0 की राष्ट्रीय शिक्षा नीति

में सामाजिक और नैतिक मूल्यों के प्रसार हेतु शिक्षा को एक सबल उपकरण माना गया है। 1990 में गठित राममूर्ति समिति ने भी शिक्षा द्वारा व्यक्तिगत, सांस्कृतिक एवं राष्ट्रीय मूल्यों के संवर्द्धन हेतु वातावरण उपलब्ध कराने पर जोर दिया है। डेलर्स कमीशन (1996) ने जोर देकर कहा था— यह शिक्षक ही है, जिसकी भूमिका मूल्यों के संचार में अत्यधिक सहयोग दे सकती है। इस आयोग के अनुसार एक शिक्षक की वास्तविक शक्ति विद्यार्थियों के समक्ष जिज्ञासा, स्वतंत्र विचारधारा, अपनी गलतियों को स्वीकार करने तथा सर्वोपरि सीखने के प्रति प्रेम उत्पन्न करने में निहित है। वस्तुतः बेहतर मानव का निर्माण तथा बेहतर सामाजिक दशा के निर्माण में ही उनकी भूमिका की सार्थकता है। वर्तमान भारतीय शिक्षा प्रणाली में मूल्य शिक्षा को अभी भी वास्तविक रूप से प्रतिबिम्बित होना है।

औपचारिक शिक्षा की सम्पूर्ण प्रणाली में मूल्यों के संचरण हेतु शिक्षक ही सर्वाधिक उपयुक्त व्यक्ति है। उसे शिक्षा के सभी स्तरों पर अपने चरित्र और सद्व्यवहार से विद्यार्थियों के समक्ष एक अभिप्रेरक रोल मॉडल की भूमिका निभानी चाहिए।

पूर्व-प्राथमिक एवं प्राथमिक स्तर से ही उपयुक्त विधि से सरलीकृत कर मूल्य शिक्षा प्रदान करना शिक्षकों का प्रधान लक्ष्य होना चाहिए। सत्य, सदाचरण, शान्ति, प्रेम तथा अहिंसा जैसे मूल्यों को पाठ्यक्रमीय तथा पाठ्य-सहगामी क्रियाओं द्वारा संचारित किया जा सकता है। पाठ्यक्रम के विभिन्न विषय—जैसे, गणित, विज्ञान, सामाजिक विज्ञान तथा भाषा—सच्चरित्रता के निर्माण के अच्छे साधन हो सकते हैं। इन विषयों के अधिकांश पाठों के माध्यम से मूल्यों की शिक्षा दी जा सकती है। जैसे—

प्राथमिक स्तर पर गणित में जोड़, घटाव, गुणा और भाग के प्रत्यक्ष राशियों के स्थान पर इस प्रकार का रावाल देकर विद्यार्थियों को सहयोग और

एकता के मूल्य की शिक्षा दी जा सकती है कि यदि राम 2 किलोग्राम का वजन उठा सकता है, मोहन 5 किलोग्राम तथा सोहन 7 किलोग्राम का वजन उठा सकता है। यदि ये सब मिलकर एक दूसरे की सहायता करें तो वे कितने किलोग्राम वजन उठा सकते हैं?

इसी प्रकार, विज्ञान के अन्तर्गत प्रस्तुत किए जाने वाले प्राकृतिक उदाहरणों में मूल्य शिक्षण की अनगिनत संभावनाएँ हैं। जैसे—बैलून में आवश्यकता से अधिक हवा भर दिए जाने पर दबाव के कारण वह फट जाता है। उसी प्रकार, भौतिक सम्पत्ति का अत्यधिक लालच मनुष्य के लिए देर-सबेर अनेक समस्याओं को जन्म दे सकता है।

भूगोल में विभिन्न वस्तुओं के आयात-निर्यात के उदाहरणों के द्वारा विश्व के सभी देशों की पारस्परिक अन्तर्निर्भरता को तथा पारस्परिक समान भाव को विकसित किया जा सकता है।

इतिहास के पाठों में अनेक ऐतिहासिक चरित्रों के चारित्रिक गुणों के प्रभावपूर्ण उदाहरण द्वारा उपयुक्त मूल्य शिक्षा दी जा सकती है। इसी प्रकार भाषा-शिक्षण के पाठों में सम्मिलित कहानियाँ, निबन्ध, कविताएँ और नाटक स्वयं में मूल्य-शिक्षा को समेटे होते हैं। शिक्षकों को इनका प्रयोग कर तथा स्वयं भी जीवन्त उदाहरण बन मूल्य-शिक्षण का प्रयास करना चाहिए।

इसी प्रकार पाठ्य-सहगामी क्रियाओं जैसे—खेलकूद द्वारा खेल-भावना, संगीत एवं नाटक द्वारा शान्ति, प्रेम एवं खुशी का संदेश दिया जा सकता है।

उच्चतर शिक्षा के स्तर पर विद्यार्थियों में सकारात्मक अभिवृत्ति उत्पन्न करने की आवश्यकता है। निर्धारित पाठ्यवस्तु को स्पष्ट करने के साथ-साथ विद्यार्थियों के समक्ष विषय के सौन्दर्य को उद्घाटित करना भी शिक्षक का दायित्व है। साम्प्रदायिक एवं

जातिगत सदभाव उत्पन्न करना, पर्यावरण के प्रति जागरूकता उत्पन्न करना, नेतृत्व के गुणों का विकास करना इत्यादि प्रयास शिक्षक को करने चाहिए, तभी सामाजिक न्याय तथा समानता जैसे संवैधानिक मूल्यों की रक्षा सम्भव है और इससे हमारे भावी नागरिक अधिकारों के साथ-साथ कर्तव्यों के प्रति भी जागरूक होंगे। शिक्षक को स्वयं विद्यार्थियों के साथ समभाव रखना चाहिए तथा समाज के निम्न वर्गों के बीच सामुदायिक गतिविधियों का आयोजन करना चाहिए। शिक्षण संस्था के प्रमुख एवं सभी शिक्षकों को मूल्यों का सजीव उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए।

सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन के कारण युवा वर्ग में पूर्वस्थापित मूल्यों के प्रति विश्वास कम हो रहा है। वे भौतिकवाद के प्रति अधिक आकर्षित हो रहे हैं। यहाँ भी शिक्षक उन्हें असमंजस से निकलने में सहायता कर सकता है।

निष्कर्ष :

संक्षेप में, एक अच्छा अध्यापक समाज की अंतरात्मा है। उसे अनासक्त भाव से कालचक्र की गति का अध्ययन करना पड़ता है तथा सामाजिक परिवर्तन की दिशा समझनी होती है। उसे अपनी मर्यादा स्वयं अपने कार्य, आचरण और उत्तरदायित्व के लिए प्रतिबद्धता द्वारा अर्जित करनी होती है। स्वामी विवेकानन्द जी के अनुसार 'मनुष्य में पाशविक, मानवीय और दिव्य इन तीनों विशेषताओं का संयुक्तीकरण है। मानवीय एवं दिव्य गुणों को उद्बोधित करने के लिए मूल्य शिक्षा अपरिहार्य है। इन मूल्यों का शिक्षण की अपेक्षा संचरण ही हो सकता है। इसके लिए शिक्षक को मूल्यों का आदर्श स्वयं प्रस्तुत करना होगा, तभी वह अपने विद्यार्थियों को समाज का उपयोगी सदस्य बना सकता है और इस प्रकार विद्यार्थियों, समाज एवं शिक्षा प्रणाली के प्रति अपने उत्तरदायित्व का सर्वोत्तम निर्वाह कर सकता है।' •

सच्ची भक्ति

सड़क पर पड़ा घायल आदमी खून से लथपथ अपना रुमाल बार-बार ऊंचा करता है— किसी को दिखाई नहीं पड़ता ! गाड़ियां फरफटे से निकलती जाती हैं— कौन झमेले में पड़े। सब के सब जल्दी में हैं। अपने लिए तक ले फुर्सत नहीं मिलती।

फैंस पर अटकी गर्दन के साथ लटका हुआ आदमी सीमाओं के पार चला गया— फिर भी पुलिस के कार्यक्षेत्र की सीमा न तय हो पाई। दौड़ती सड़क पर टक्कर खाकर गिरा एक आदमी। एक डॉक्टर रुका। कइयों से विनती की पर कोई उसे अस्पताल तक पहुंचाने को राजी न हुआ। महंगी गाड़ी है। गाड़ी की सीटें खराब नहीं हो जाएंगी? धाराधार खून बह जाने से वह आदमी मर गया।

इंसान की भावशून्यता की हद है। मदद के लिए पुकारते इन आहतों की जगह हम भी हो सकते हैं किसी दिन। हमारा बच्चा इस हालत में हो तो क्या हम कन्नी काट कर निकल सकेंगे। पर यह सब भी कौन सोचता है? किसके पास फुर्सत है यह सोचने की भी? इस उदासीनता के पीछे क्या है? प्रशासन का अभयदान हो तो बचाने वाले शायद आगे आएँ। अस्पताल पहुंचाने वाला यदि दुर्घटना के लिए जिम्मेवार हो तो भी उसको सजा देना ज्यादा जरूरी है या घायल की जान बचाना। आए दिन पानी खोजने के लिए खोदे गए गड्ढों में मासूम बच्चे गिर जाते हैं। सेना इंजीनियर, लोगों का जमघट उसे निकालने में लग जाता है। गलती बार-बार हो तो अपराध बन जाती है। इन हादसों के मूल में गड्ढा खुला छोड़ने वालों तक कोई चैनल वाले नहीं पहुंचते? रात-दिन बचाव कार्य कवरेज होते हैं। बच्चे के लिए आंसुओं की झड़ी लग जाती है। हादसे फिर भी दोहराए जाते हैं।

समय पर जरूरतमंद की मदद न की जाए तो दान-पुण्य, पूजा, जप-तप तीर्थयात्रा सब अर्थहीन हो जाते हैं। मनुष्य भगवान का माध्यम है। उसी के हाथों वह जीवों की सहायता करता है। हम उसका साधन बन जाएं तो भक्ति पूर्णता को पहुंचाती है वरना ईश्वर हमसे कोसों दूर हो जाता है।

— अनहद

नैतिक प्रदूषण और हम

श्री शैलेन्द्र वर्मा
डॉ० राखी देव

पर्यावरण हमारे जीवन का मूल आधार है। पर्यावरण की उपस्थिति मनुष्य के जन्म से पूर्व रही है। वायु, जल, भूमि, वनस्पति, पेड़ पौधे, पशु एवं मानव मिलकर पर्यावरण का निर्माण करते हैं। प्रकृति में इस सबकी मात्रा एवं रचना कुछ इस प्रकार से व्यवस्थित है कि पृथ्वी पर एक संतुलनमय जीवन चलता रहे। विगत करोड़ों वर्षों से प्रकृति का यह चक्र निरन्तर एवं अबाध गति से चला आ रहा है। जिसको जितनी आवश्यकता होती है वह उसे मिलता रहता है और प्रकृति भविष्य के लिए अपने में उसे उत्पन्न करके संरक्षित कर लेती है। यही एक स्वस्थ पर्यावरण की पहचान है, जिसमें प्राणधारी की समस्त मूलभूत आवश्यकताओं की पूर्ति होती है ताकि वह सुखमय जीवन व्यतीत कर सके।

मनुष्य सदा से प्रकृति के सानिध्य में ही उत्तरोत्तर विकसित हुआ है। कभी वह उससे भयभीत होता है तो कभी उसे सहचर स्वीकार करता है और सफलता के उन्माद में विजेता की भांति समस्त पर्यावरण को अधिग्रहीत कर लेना चाहता है। मनुष्य की सर्वग्राही प्रवृत्ति विनाश के द्वार पर दस्तक देती है। पर्यावरण अन्ततः एक जीवन्त सत्ता है जो स्वयं देर तक अत्याचार नहीं सहती बल्कि ज्वालामुखी, भूकम्प एवं सुनामी आदि के रूप में पलटवार कर देती है।

मानव सभ्यता के विकास के कारण तथा बढ़ती मानवीय लिप्सा के कारण मानव द्वारा की जाने वाली विभिन्न क्रियाओं के द्वारा पर्यावरण में अनावश्यक तत्त्वों के मिलने से पर्यावरण का संतुलन बिगड़ गया है। यही पर्यावरणीय प्रदूषण है जिस के कारण हमारा पर्यावरण मानव के रहने योग्य नहीं

रह गया है। “पर्यावरणीय प्रदूषण” एक ऐसा शब्द है जिसका आशय मुख्यतः मानव के आस-पास के क्षेत्र को प्रदूषित करना है। यह कार्य मानव द्वारा ही उसके गलत कार्यों एवं गतिविधियों से होता है।

जब कभी पर्यावरण की चर्चा की जाती है तो भौतिक पर्यावरण में पाये जाने वाले प्रदूषण पर ही विशेष जोर दिया जाता है, जबकि पर्यावरण के विभिन्न दूसरे आयामों को उपेक्षित कर वायु प्रदूषण, जल प्रदूषण, ध्वनि प्रदूषण एवं रेडियो धर्मी प्रदूषण के कुप्रभावों पर चर्चा कर इति श्री समझ ली जाती है, जबकि वस्तु स्थिति ठीक इसके विपरीत है। मानव के विभिन्न गलत कार्यों एवं विकास के फलस्वरूप होने वाले प्रदूषण को नियंत्रित किया जाना संभव है, किन्तु जो प्रदूषण मानव मस्तिष्क में घुसपैठ कर चुका है उसको निकाल पाना नितांत असंभव है। इसी प्रदूषण को नैतिक प्रदूषण की संज्ञा दी जा सकती है।

नैतिक प्रदूषण मानव में नैतिकता के क्रमिक ह्रास एवं ऋणात्मक सोच से सम्बन्धित होता है, जो मानव को सही दिशा में कार्य करने से रोकता है। पर्यावरण के अन्य दूसरे आयामों, यथा— सांस्कृतिक पर्यावरण, सामाजिक पर्यावरण, शैक्षिक पर्यावरण, आर्थिक पर्यावरण एवं राजनैतिक पर्यावरण में पाये जाने वाले प्रदूषण के लिए भी मुख्यतः मानव की ऋणात्मक सोच ही उत्तरदायी है। यह स्पष्ट है कि किसी भी प्रकार के प्रदूषण के होने, उससे बचने एवं प्रदूषित होने पर कोई उपाय सुझाने की स्थिति तो तब आयेगी जब मनुष्य की सोच में समस्या के प्रति कोई लगाव हो तथा उसे दूर करने के लिए उसका मानस तैयार हो तथा उसके विचार की दिशा धनात्मक हो। यदि हम उक्त कथनों को एक

वाक्य में समेटना चाहें तो यह कहा जा सकता है कि मनुष्य में नैतिकता का होना अत्यन्त आवश्यक है।

“नैतिकता किसी व्यक्ति या व्यक्तियों से सम्बन्धित वे सिद्धान्त और मूल्य हैं, जिन्हें सामान्यतः समाज अथवा लोगों द्वारा स्वीकार किया जाता है”। नैतिकता तत्काल यह निर्णय करने अथवा देने में सक्षम होती है कि व्यक्तियों द्वारा किए जा रहे कार्य अच्छे हैं या बुरे हैं। यही नहीं बल्कि उचित-अनुचित कार्य भी नैतिकता के दायरे में आ जाते हैं। आज पर्यावरणीय प्रदूषणों में से नैतिक प्रदूषण सर्वाधिक खतरनाक है। अन्य भौतिक पर्यावरण सम्बन्धी प्रदूषण यथा-जल प्रदूषण, वायु प्रदूषण एवं ध्वनि प्रदूषण को सरकार द्वारा कानून बना कर रोका जा सकता है। हमारे समक्ष अनेक उदाहरण हैं, जैसे- ताजमहल के पास स्थित औद्योगिक संस्थानों को शहर से दूर करना, ध्वनि प्रदूषण के रोकथाम के लिए ‘साइलेंस जोन’ का निर्माण करना, वायु प्रदूषण के लिए उत्तरदायी वाहनों में ‘स्क्रबर’ तथा सीसा युक्त पेट्रोल के प्रयोग के अतिरिक्त सी0एन0जी0 (कम्प्रेसड नेचुरल गैस) युक्त वाहनों के प्रयोग को बढ़ावा देना तथा गंगा को प्रदूषित होने से रोकने के लिए चर्मशोधक कारखानों के वर्ज्य पदार्थों के निस्तारण के लिए सॉलिड वेस्ट मैनेजमेंट प्लान बनाना तथा नालों को नदी में गिरने से रोकना। आदि उपायों से भौतिक प्रदूषणों को तो रोका जा सकता है, किन्तु जो गंदगी मानव मस्तिष्क में गहरी पैठ बना चुकी है, उसको निकालने के लिए क्या उपाय किए जाने चाहिए। आज सर्वाधिक आवश्यकता इस नैतिक प्रदूषण को रोकने की है।

यदि हम दिन प्रतिदिन के क्रिया-कलापों का अवलोकन करें तो पता चलता है कि हमारे भीतर नैतिकता का ह्रास किस सीमा तक हो चुका

है। हम अपने कार्यस्थल पर समय से नहीं पहुँचते हैं, खाने पीने की वस्तुओं में मिलावट करते हैं, बिना टिकट यात्रा करते हैं, कम सामान तौल कर अधिक मूल्य लेते हैं, झूठ बोलते हैं, रिश्वत लेते हैं, धोखा एवं विश्वासघात करते हैं, गलत आयकर रिटर्न भरते हैं, अपने लाभ के लिए दूसरों का शोषण करते हैं, विविध कार्यों हेतु गलत प्रमाण पत्र प्रस्तुत करते हैं, बिजली एवं पानी के मीटर से छेड़-छाड़ करते हैं और भी न जाने कितने उदाहरण हो सकते हैं जो किसी न किसी व्यक्ति के दैनिक जीवन में घटते हैं। उक्त समस्त कार्य अनैतिक कार्य हैं, जिससे वह व्यक्ति ही नहीं बल्कि समाज एवं देश प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित होता है।

नैतिक ह्रास के प्रमुख कारणों में से व्यक्तिगत स्वार्थपरता, लालच, कठोर श्रम के प्रति उदासीनता, राष्ट्रीय भावना में कमी, दूसरों से तुलना करने की होड़ तथा भविष्य की अनदेखी है। नैतिक ह्रास के कारण आज समाज में नैतिक प्रदूषण चहुँओर अपनी पैठ बना चुका है। समाज का कोई भी सदस्य नैतिक प्रदूषण के कुप्रभावों से बचा नहीं है, किन्तु फिर भी हम लोग आँख मूंदे बैठे हैं। इस प्रकार की उदासीनता देश को रसातल में ही ले जा रही है। नैतिक प्रदूषण को बढ़ावा देने में हम सब की बराबर की भागीदारी है। हम अपनी जबाबदेही से बच नहीं सकते हैं।

नैतिक प्रदूषण मूलतः चरित्र से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित है। नैतिक प्रदूषण का प्रमुख कारण बालकों के चरित्र निर्माण में की जाने वाली लापरवाही है। जब हम स्वयं चरित्रवान नहीं हैं एवं हमारे भीतर नैतिकता का ह्रास हो चुका है तो हम कैसे अगली पीढ़ी के चरित्र निर्माण में सक्रिय, सजग एवं उत्तरदायित्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। हमें इस प्रश्न का हल ढूँढ़ना होगा। महात्मा गांधी ने कहा था कि “ज्ञान का अंतिम लक्ष्य चरित्र

निर्माण है।" चरित्र निर्माण के प्रति गांधी जी कितने आग्रही थे, यह उनकी इस बात से पता चलता है कि "सच्चरित्रता के अभाव में केवल बौद्धिक ज्ञान सुगंधित शव के समान है।" अच्छे चरित्र का आधार मूल्य हैं।

मैथ्यू आर्नोल्ड जैसे कवि-आलोचक यह मानते हैं कि "जीवन का तीन-चौथाई आधार अच्छा चाल-चलन है"। अच्छे चाल-चलन का अभिप्राय यही है कि हम अपने कार्य एवं व्यवहार दोनों में नैतिक हों। अच्छे चाल-चलन हमारी वे समस्त आदतें हैं, जो परिवार, समुदाय एवं शिक्षा संस्थानों में पुष्पित एवं पल्लवित होती हैं। परिवार बालक की प्रथम पाठशाला है, जहाँ पर वह अपने माता पिता से शिक्षित एवं संस्कारित होता है। तत्पश्चात् अपने समाज के वातावरण से सीखता है। इस प्रकार एक अच्छे नागरिक का प्रारम्भिक निर्माण बहुत कुछ परिवार की शैक्षिक, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति पर निर्भर करता है। लेकिन ऐसे उदाहरणों की भी कमी नहीं है, जहाँ अशिक्षित एवं निम्न आर्थिक स्थिति वाले परिवार भी मूल्यपरक आचरण में आस्था रखते हैं एवं बड़े से बड़े प्रलोभन भी उन्हें डिगा नहीं पाते।

अतः यह कहा जा सकता है कि मूल्य का सम्बन्ध हमारी आत्मा से है और नैतिकता हमारे आचरण का वह मूल्य है जो हमें न्याय एवं सच्चाई के मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करता है। हमारा नैतिक आचरण समाज को सदपथ पर चलने की प्रेरणा देता है तथा स्वयं को आत्मसंतोष भी देता है। इसके विपरीत भ्रष्ट आचरण हमें भय एवं चिंता से ग्रस्त रखता है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति नैतिक होगा, वह सत्य एवं न्याय का पक्षधर अवश्य होगा। अतः नैतिक प्रदूषण को रोकने के लिए बालकों में नैतिक विकास का प्रयास करना होगा। नैतिकता के विकास के लिए जीवन

मूल्यों के प्रति आस्था विकसित करनी होगी। हमें यह प्रयास करना होगा कि बालक विभिन्न जीवन मूल्यों यथा-सच, साहस, आत्मविश्वास, देशभक्ति, ईमानदारी, श्रम में निष्ठा, विनम्रता, प्रेम, धैर्य, क्षमा, निर्भीकता, सादगी, मितव्ययता, सहयोग, दृढ़ निश्चय, परोपकार, कर्तव्य परायणता, समाज सेवा, अहिंसा, त्याग, सहानुभूति, दया, मित्रता एवं अनुशासन को समझ सके, इनको आत्मसात् करने का प्रयास कर सके तथा इनमें आस्था रख सके। हमें बालकों को यह समझाना होगा कि यही जीवन मूल्य उन्हें जीवन में कुछ करने की प्रेरणा दे सकते हैं और एक सुखमय जीवन का आश्वासन उन्हें मिल सकता है।

जीवन मूल्यों में आस्था विकसित करने के साथ-साथ उनमें अच्छी आदतों का निर्माण भी किया जाना चाहिए। बालक कोई भी आदत तभी सीखता है जब अपने बड़ों को करते हुए देखता है। अतः हमें स्वयं अच्छी आदतों को अपने व्यवहार में शामिल करना चाहिए क्योंकि आदतें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करती हैं और उसके नैतिक कार्यों में सहायक होती हैं। बालकों में नियमितता, समय पाबंदी, बड़ों को सम्मान, छोटों को प्यार, अतिथि का सत्कार करना, अपनी बारी की प्रतीक्षा करना, अपनी गलतियाँ स्वीकार करना, वायदे पूरा करना, सदैव मदद को तत्पर रहना, निर्भीक बनना तथा दूसरों पर दोषारोपण न करने जैसी अच्छी आदतों के विकास में शिक्षक, माता-पिता एवं समाज के समस्त सदस्यों को प्रयास करना होगा तभी समाज में व्याप्त नैतिक प्रदूषण को रोकने में सहायता मिल सकेगी।

बालकों में नैतिकता के विकास के लिए उन्हें आदर्श महापुरुषों की जीवनी पढ़ने एवं उनके कृत्यों से परिचित होने का अवसर दिया जाना

चाहिए। आदर्श महापुरुषों ने अपने जीवन में ऐसे कार्य किए हैं जिनसे न केवल देश को अपितु समस्त संसार को लाभ मिला है। अतः बालकों को ऐसे महापुरुषों के जीवन साहित्य को पढ़ने का अवसर मिलना चाहिए। इसके अतिरिक्त अच्छे पठनीय साहित्य के सम्पर्क में भी बालकों को लाया जाना चाहिए ताकि बालक उस साहित्य में व्यक्त संस्मरण, अनुभव, घटना, कहानी या उदाहरणों से सीख लेते हुए अपने जीवन को खुशहाल बना सकें।

नैतिक प्रदूषण के उन्मूलन के लिए उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त जो सबसे महत्वपूर्ण बात है, वह है अभिभावकों एवं माता-पिता द्वारा किया जाने वाला व्यवहार। जब तक माता-पिता अपने व्यवहार को आदर्श स्थिति में नहीं लाते हैं, तब तक बालक उस व्यवहार को सीख नहीं पायेगा। स्वयं झूठ बोलने वाले माता-पिता अपने बालकों से सच बोलने की उम्मीद कैसे कर सकते हैं? निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि नैतिक प्रदूषण की भयावहता को देखते हुए यह हम सब का सामूहिक उत्तरदायित्व होना चाहिये कि हम स्वयं अपने आचरण में सुधार लाकर अपनी अगली पीढ़ी के जीवन को सुरक्षित एवं सुखमय बनाने का प्रयास करें तभी यह वसुधा जीवन जीने के लायक बचेगी। •

पृष्ठ 22 का शेष भाग

का सामना सफलतापूर्वक कर सकता है।

उपर्युक्त विस्तृत विवेचन के उपरान्त निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वर्तमान भौतिकतावादी युग जिसमें उदारीकरण, निजीकरण एवं वैश्वीकरण जोरों पर है, मूल्य शिक्षा भारतीय स्वरूप को बनाये रखने में अत्यंत मददगार साबित हो सकती है। विशेषतः आधुनिक समाज में प्रजातंत्र के संरक्षण एवं प्रसार हेतु विद्यार्थियों में प्रजातांत्रिक,

समाजवादी एवं मानवीय मूल्य विकसित करने में मूल्यशिक्षा अत्यंत मददगार है।

भारतीय परम्परागत आध्यात्मिक मूल्यों के विकास के अतिरिक्त मूल्य शिक्षा द्वारा विद्यार्थियों को आदर्श तथा देशभक्त नागरिकों में परिणित किया जा सकता है। साथ ही पर्यावरण संरक्षण के प्रति जनचेतना जागृत करने का कार्य भी मूल्य शिक्षा द्वारा ही संभव है। शिक्षा में केवल ज्ञान एवं कौशल को जोर देने की प्रवृत्ति से दूर हटकर भावों एवं मूल्यों को पर्याप्त एवं महत्वपूर्ण स्थान देने की आवश्यकता है, जिससे विद्यार्थियों का ज्ञान एवं कौशल सामाजिक मूल्यों में ढलकर समाज, राष्ट्र एवं विश्व की भलाई के लिए महत्वपूर्ण साबित हो सके। •

विद्यार्थियों को उपदेश

कठोर काम में अनवरत लगे रहने का अभ्यास डालो। पढ़ते समय सारी दुनिया को एक ओर रख दो और पुस्तकों में, लेखक की विचारधारा में डूब जाओ। यही तुम्हारी समाधि है, यही तुम्हारी उपासना है और यही तुम्हारी पूजा है। कठिन परिश्रम करना सीखो। खूब गड़कर, जमकर मेहनत करो और अपने उच्च और पवित्र आदर्श को कभी मत भूलो। शास्त्र और शस्त्र, बुद्धिबल और बाहुबल, दोनों का उपार्जन करो। सादा जीवन और उच्च विचार का आदर्श न भूलो।

● महामना मालवीय जी

वर्तमान में स्वामी विवेकानन्द के शैक्षिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों की प्रासंगिकता

संख्या- त्रिपाठी

विश्व की अनेक संस्कृतियों में भारतीय संस्कृति की अपनी एक विशिष्टता व महत्ता रही है, और वह यह कि उसके हजारों वर्ष के इतिहास में अतीत के साथ उसका सम्बन्ध आज तक अटूट बना हुआ है। भारतीय संस्कृति सदैव से ही संसार के ज्ञान विज्ञान की प्रबल समर्थक रही है। विभिन्न प्रकार की विभिन्नता के बावजूद सांस्कृतिक, धार्मिक, भावनात्मक एकता का अटूट बन्धन ही भारतीय संस्कृति का शाश्वत मूल्य रहा है। यहाँ की शिक्षा भी मूल्यों पर आधारित रही है। ईश्वर भक्ति एवं धार्मिकता का समावेश, चरित्र-निर्माण, व्यक्तित्व का विकास, नागरिक एवं सामाजिक कर्तव्य पालन की भावना का समावेश, सामाजिक कुशलता की उन्नति और राष्ट्रीय संस्कृति का संरक्षण एवं प्रसार के उद्देश्यों पर भारतीय शिक्षा आधारित रही है। वर्तमान में शिक्षा के बढ़ते प्रचार प्रसार के बावजूद हमारे समाज में जिस प्रकार का गुणात्मक व मूल्यात्मक परिवर्तन होना चाहिए, वह नहीं हो रहा है। बल्कि हम संस्कृत होने के बजाय असंस्कृत हो रहे हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति से जीवन के सुन्दर व उदात्त मूल्यों का हास हो रहा है जिससे व्यक्ति में लालच, संकीर्णता, स्वार्थपरता, संवेदनहीनता, अपराध व हिंसा नैतिक मूल्यों की कमी आदि में वृद्धि हुई है। आज जो समाज और व्यक्ति की स्थिति है, उसे देखकर लगता है कि समाज व मानव मूल्यों के निर्माण में शिक्षा की जो रचनात्मक भूमिका होनी चाहिए, वह उसे नहीं निभा पा रही है। अतः ऐसे समय में इस देश को स्वामी विवेकानन्द जैसे युगान्तकारी चिन्तकों के आदर्शों व मूल्यों पर चिन्तन करने व उसे आत्मसात करने की आवश्यकता है।

स्वामी जी की दृष्टि में शिक्षा का प्रयोजन है—'मनुष्य की पूर्णता की अभिव्यक्ति'। वे कहते हैं— "Education is the manifestation of perfection already in man"—जो व्यक्ति के भीतर अन्तर्निहित उदात्तता व पूर्णता को प्रकट करने में सहायक हो वही शिक्षा है। यहाँ पूर्णता से तात्पर्य—व्यक्ति का जो अपना स्वरूप है वह ईश्वर का अंश है। उसकी यह जो दिव्यता व Inherent Divinity है— इस दिव्यता का, एवं इस आत्मरूपता का प्रकाशन ही शिक्षा का उद्देश्य होता है। मनुष्य का व्यक्तित्व चेतना के प्रत्येक स्तर पर विकसित हो सके चाहे वह शारीरिक, बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक स्तर पर हो। व्यक्ति के व्यक्तित्व में एकरूपता एवं समरूपता हो जिससे वह विभिन्न पक्षों से किये जाने वाले कार्यों को कुशलता पूर्वक कर सके, यही शिक्षा का मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। मनुष्य की दिव्यता या पूर्णता की अभिव्यक्ति से तात्पर्य यह नहीं है कि उसके व्यक्तित्व के अन्य भौतिक पक्षों की उपेक्षा की जाय। उनकी दृष्टि में— **नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः**। जो शारीरिक दृष्टि से सुदृढ़ है, बलशाली है वही साधना करने में समर्थ हो सकता है। चाहे वह साधना आध्यात्मिक मूल्य की हो या फिर जीवन के विविध पक्षों में विभिन्न उपलब्धियों के लिए किया जाने वाले संघर्ष की हो। शारीरिक स्वास्थ्य के पश्चात् बुद्धि का विकास होता है। बुद्धि का उचित दिशा में विकास होने से व्यक्ति अपनी प्रतिभा व सामर्थ्य का पूर्णतया उपयोग कर सकता है। उसके पश्चात् आध्यात्मिक पहचान के मूल्य का विकास होता है— मैं शरीर नहीं हूँ, मैं बुद्धि, मन एवं अहंकार भी नहीं हूँ, मैं इन सबसे परे शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मतत्त्व हूँ। वर्तमान में प्रत्येक व्यक्ति को

इन आध्यात्मिक मूल्यों का अनुभव होना चाहिए। स्वामी विवेकानन्द जी का भी यही मन्तव्य है। जब इस प्रकार के आध्यात्मिक मूल्यों का अनुभव होता है, तो व्यक्ति के भीतर एक ऊर्जा उत्पन्न होती है, जिससे उसे एक अद्भुत सामर्थ्य व शक्ति का अनुभव होता है और उसके भीतर से दैन्य व कायरता जैसे दोष दूर हो जाते हैं। इससे व्यक्ति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अप्रतिहत गति से आगे बढ़ सकता है। इस प्रकार शिक्षा का प्रयोजन यह है कि व्यक्ति अपने जीवन में चारों पुरुषार्थों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का भली भाँति रूपायन कर सके। वर्तमान में ऐसी ही शिक्षा की आवश्यकता है। स्वामी विवेकानन्द जी का मानना है कि शिक्षा को धर्म से जोड़कर देखा जाना चाहिए। धर्म व शिक्षा दो भिन्न चीजें नहीं हैं। दोनों के एक ही उद्देश्य भी होने चाहिए। धर्म से स्वामी जी का तात्पर्य किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के मतानुसार शिक्षा, किसी विशेष पूजा पद्धति से नहीं था बल्कि धर्म वे शाश्वत जीवन मूल्य हैं जो व्यक्ति को सार्थकता प्रदान करते हैं और उसे अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा के समायोजन में शक्ति देते हैं, दिशा व मार्गदर्शन करते हैं। धर्म के कुछ नियम हैं जिसके पालन करने से व्यक्ति अपने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उत्थान कर सकता है। हमारे यहाँ चारों पुरुषार्थों में धर्म ही सर्वप्रथम आता है। धर्म पूर्वक अर्थ, धर्म पूर्वक काम इस प्रकार आचरण होना चाहिए। अर्थ व काम यदि धर्म से रहित हो जायें तो समाज में चोरी, डकैती, लूटपाट, अनाचार, चरित्रहीनता फैलने लगती है जैसा कि आज हमारे देश में फैला हुआ है। यहाँ धर्म की आवश्यकता व महत्ता बढ़ जाती है।

स्वामी जी की दृष्टि में धर्म से तात्पर्य आध्यात्मिकता व वेदान्त से है। उपनिषदों में प्रतिपादित जो एक तत्त्व है, यह आत्मतत्त्व ही इस सम्पूर्ण सृष्टि के रूप में व्यक्त हो रहा है, वही मैं हूँ, वही

आप हैं, सारी सृष्टि भी वही है। इसकी अनुभूति ही धर्म है। उनकी दृष्टि में शिक्षा का उद्देश्य व प्रेरणा धर्म पूर्वक होनी चाहिए। धर्म का महत्त्वपूर्ण कार्य चरित्र निर्माण है। उनकी शिक्षा पद्धति "Man-Making", "Nation building Education" कहलाती है। मनुष्य-निर्मात्री व राष्ट्र निर्मात्री शिक्षा से तात्पर्य है, ऐसी शिक्षा जो व्यक्ति के चरित्र का विकास करे, उसके दोषों का परिमार्जन करे, तथा परहित की भावना तथा सिंह के समान साहस का विकास करे, उसमें सद्गुणों एवं सकारात्मक मूल्यों का आधान करे, उसे नैतिक, धार्मिक आध्यात्मिक मूल्य दे, उसके चरित्र की कमियों को दूर करके उसे परिष्कृत करने का कार्य करे, यही शिक्षा व अध्यात्म का कार्य है। अतः उन्होंने शिक्षा व धर्म दोनों को विपरीत ध्रुव नहीं माना। जैसा कि वर्तमान में समझा जा रहा है। धर्म के वास्तविक स्वरूप को अप-व्याख्यायित किया जा रहा है। इससे समाज में कई विकृतियाँ आ रही हैं। उनका मत है कि धर्म से विरहित शिक्षा का व्यक्ति के ऊपर सकारात्मक प्रभाव नहीं पड़ता। इसलिए उन्होंने विद्यार्थियों के लिए जिन मूल्यों व चरित्र की आवश्यकता बताई वे हैं— श्रद्धा, विश्वास, साहस, सत्य के प्रति निष्ठा, ब्रह्मचर्य आदि। इन जीवन मूल्यों (गुणों) का विकास शिक्षा के द्वारा ही किया जा सकता है। जो शिक्षा इन गुणों को विकसित करने में असमर्थ होती है, वह शिक्षा व्यर्थ है।

इसलिए उनका मत है कि शिक्षा एक आन्तरिक व अन्तरंग प्रक्रिया है जो शिक्षार्थी के अन्दर घटती है। इसी के द्वारा उपयुक्त वातावरण दिये जाने पर व्यक्ति अपने भीतर के ज्ञान को आविष्कृत करता है। लेकिन वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में निषेध व नकारात्मकता का प्राबल्य है तथा बच्चे पैदा करने की मशीन के सिवाय कुछ नहीं हैं। शिक्षा शास्त्री, अध्यापक बच्चों को केवल ज्ञान

रहे हैं। और रटा-रटाकर उनके मस्तिष्क में कई विषय ठूसते जा रहे हैं, जिसका व्यक्ति के अन्तःकरण से कुछ लेना देना नहीं है। यह हमारे जीवन में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन व सुधार नहीं ला सकती क्योंकि यह हमारी मानसिक प्रक्रिया का अंग नहीं है। और न ही यह हमारे अन्तःकरण में निहित ज्ञान को जागृत करती है। स्वामी विवेकानन्द जी का कहना है कि यह केवल जानकारी के स्तर पर आकर रुक जाती है। इसलिए शिक्षा की इतनी अधिक व्यवस्था व साक्षरता के बावजूद यदि व्यक्ति व समाज के भीतर कोई आध्यात्मिक मूल्यों का विकास नहीं हो पा रहा है, तो इसका कारण केवल यह कि शिक्षा एक बाहरी व्यवस्था हो गयी है। यह आन्तरिक प्रक्रिया नहीं रह गयी है। इसलिए व्यक्ति में मानवीय मूल्यों का विकास नहीं हो पा रहा है।

स्वामी जी की दृष्टि में प्राचीन समय की गुरुकुल व्यवस्था अच्छी रही है। यहाँ शिक्षा का अर्थ— “गुरु गृहवास” शिक्षक के व्यक्तिगत जीवन के बिना कोई शिक्षा नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त शिक्षण पद्धति में अधिकारी भेद को महत्त्व दिया गया है। लेकिन वर्तमान में इसकी उपेक्षा की गई है। आज हमने “सब धान बाइस पसेरी” की तरह एक पाठ्यक्रम बना दिया है और हर व्यक्ति उसके अनुसार ही पढ़ रहा है। यह शिक्षा व्यक्ति के आन्तरिक वातावरण के अनुकूल नहीं है लेकिन इस पर कोई ध्यान नहीं दे रहा है।

स्वामी विवेकानन्द जी शिक्षण पद्धतियों को विश्लेषित करने पर तात्त्विक दृष्टि से केवल अद्वैत व आध्यात्मिक मूल्यों की शिक्षा पर बल देते हैं। उन्होंने व्यवहारिक स्तर व सामाजिक स्तर पर विस्तृत शिक्षा पर बल दिया है। यदि व्यक्ति को अपना सर्वांगीण विकास करना है तो इसके लिए जरूरी है कि उसके विषयों को इस तरह से विभक्त किया जाय कि मनुष्य की बुद्धि द्वारा स्पर्श किये

जाने वाले सारे पक्ष उसमें आ जाए। साहित्य के एक वर्ग को वे अंग्रेजी में Classics कहते हैं, जिसके अन्तर्गत व्यक्ति को भारत के शाश्वत चिन्तन मूल्यों का परिचय कराने वाले वेद, महाभारत, रामायण आदि ग्रन्थ आते हैं। दूसरा वर्ग विज्ञान, तीसरा वर्ग तकनीक, चौथे वर्ग में साहित्यिक विषय व पाँचवा ललित कलाओं का है। उनका मत है ललित कलाओं के बिना व्यक्ति में कोमलता तथा संवेदना के स्तर पर वह परिष्कृति तथा सुरुचि उत्पन्न नहीं हो पाती, जो उसे एक अच्छा इन्सान बना दे।

स्वामी विवेकानन्द का मन्तव्य यही रहा कि सबसे पहले हमें अपने देश की आध्यात्मिक व लौकिक शिक्षा को दुरुस्त करना होगा। इसके लिए स्कूलों तथा कालेजों में शैक्षिक और वैज्ञानिक प्रशिक्षण के साथ-साथ आध्यात्मिक प्रशिक्षण की भी व्यवस्था करनी चाहिए। वर्तमान में पाठ्यक्रमों में से आध्यात्मिक शिक्षा को हटा दिया गया है। इससे बच्चों में मानवीय मूल्यों का विकास नहीं हो पा रहा है। इसलिए शिक्षा व आध्यात्म का समन्वय आवश्यक है। हमें स्वानुभूति को केन्द्रित करना होगा। हम सभी को अपने-अपने उच्च भौतिक धरातल के प्रति जागरूक बनना होगा। हमें अपनी सुप्तावस्था में पड़ी आन्तरिक ऊर्जा को प्रज्वलित करना चाहिए ताकि वह हमारा मार्गदर्शन कर सके तभी देश में शान्ति, समृद्धि आयेगी जिससे देश का उत्थान होगा। •

शुद्ध बनना और दूसरों की भलाई करना ही सब उपासनाओं का सार है। जो गरीबों, निर्बलों और पीड़ितों में शिव को देखता है, वही वास्तव में शिव का उपासक है पर यदि वह केवल मूर्ति में ही शिव को देखता है, तो यह उसकी उपासना का आरम्भ मात्र है। ○ स्वामी विवेकानन्द

भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण में गाँधी जी का योगदान

डॉ० उपासना पाण्डेय

भारतीय संस्कृति लोक-व्यवस्था एवं जन-समुदाचार के परिवर्तनों का इतिहास मात्र न होकर मूलतः सनातन योग अथवा साधना की अतिविशिष्ट ऐतिहासिक परम्परा है। ज्ञान के क्षेत्र में इसका साध्य परा विद्या, कर्म के क्षेत्र में धर्म, अनुभूति के क्षेत्र में रस कहा जा सकता है और इस त्रिधाकरण के अनुसार एक ही मौलिक योग ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग के रूप में विभक्त हो जाता है। व्यावहारिक स्तर पर यही त्रिविध साधना शास्त्रानुसन्धान नीति एवं कला का रूप धारण करती है।

भारतीय परम्परा में ज्ञानी का मुख्य अर्थ आत्मज्ञानी रहा है और उसकी मानस प्रतिमा रही है अन्तर्दृष्टि सम्पन्न योगी की। ज्ञानी की यह प्रतिमा न पुस्तकों के बोझ से दबे हुए शास्त्री की है, न उपकरणों से सजे हुए वैज्ञानिक की। यह प्रतिमा आत्मसाक्षात्कार तक पहुँचे हुए जीवनमुक्त पुरुष की है जिसका ज्ञान बाह्य सामग्री पर निर्भर नहीं करता, न भौतिक और न ही सामाजिक परिस्थितियों पर। अपितु सच तो यह है कि भारतीय संस्कृति में 'ज्ञानी' ज्ञान की बाह्य उपाधि न होकर आत्मा का नित्यरूप है।

यद्यपि आत्मज्ञान का संकेत सभी परम्पराओं में मिलता है, उसका इतना महत्त्व स्वीकार किया गया है कि सामान्य जनता भी ज्ञान का मुख्य अर्थ आत्मज्ञान समझे न कि व्यावहारिक ज्ञान, यह भारतीय संस्कृति की विलक्षणता ही है। डेल्फी के मन्दिर पर लिखा था 'अपने को जानो' और सुकरात में आत्मज्ञान का आदर्श भी चरितार्थ था किन्तु प्लेटो, अरस्तु की प्रसिद्ध प्राचीन यूनानी परम्परा में ज्ञान का अर्थ

मनुष्य के सामाजिक स्वरूप के तार्किक ज्ञान से था। बुद्धिगम्य अतीन्द्रिय तत्त्व का ज्ञान आदर्श रूप में स्वीकृत होते हुए भी उसका फलितार्थ शुद्ध गणित-विद्या में या द्वन्द्वात्मक तर्क में ही माना गया। प्लेटो ने ज्ञानी से राज्य के आदर्श संचालन की आशा व्यक्त की है परन्तु जनक आदि राजर्षि-चरित्र में राजा से भी आदर्श व्यक्ति होने की आशा निहित है और आदर्श व्यक्ति की चेतना केन्द्रित होती है शून्यात्मक प्रज्ञा में। भारतीय संस्कृति में अध्यात्मविद्या की साधना भागीरथ के समान प्रशस्तर और गम्भीरतर होती गयी है। उसका मुख्य सूत्र रहा है चेतना का अन्तर्मुख परिशीलन।

खोज जहाँ एक ओर ज्ञान (आत्मज्ञान) की रही वहीं दूसरी ओर स्थूल शारीरिक अस्तित्व की भी रही। जहाँ मृत्यु की विभीषिका एक अनिवार्य सत्य है। और यहीं से कर्मयोग की परम्परा विकसित होती है, जो भारतीय संस्कृति की दूसरी अनिवार्य विशेषता रही है। वस्तुतः कर्म के क्षेत्र में धर्म की साधना ही कर्मयोग है। कर्मयोग आदर्श मानवता की साधना है, जिसमें मानवीय आदर्श भोगसंचय न होकर धर्मवृद्धि है। व्यक्तिगत व सामाजिक दोनों ही आयामों में यह साधना एक साथ अग्रसर होती है और इसलिए धर्म एक ओर व्यक्ति के चारित्रिक आदर्श को सूचित करता है तो दूसरी ओर आदर्श सामाजिक व्यवस्था को। धर्म के इन्हीं पक्षों को धर्मशास्त्र की परम्परा में वैदिक आचार के आधार पर साधारण धर्म और वर्णाश्रम धर्म के रूप में व्यवस्थित किया गया है। इस प्रकार भारतीय संस्कृति का प्राणभूत तत्त्व धर्म का स्वरूप सनातन व सार्वभौमिक होते हुए भी देश, काल, जाति, पात्र एवं

अवस्था के अनुसार व्यवस्थित होता है। प्राकृतिक प्रवृत्तिमात्र से धर्म नहीं बनता। धर्म एक मर्यादा जताता है जो विवेक से ही पहचानी जाती है। विवेक से मर्यादित जीवन ही पुरुष को प्रकृति की दासता से मुक्त करता है। इस मुक्ति का अनुसन्धान पुरुष का परम धर्म अथवा साध्य है। इस प्रकार धर्म सम्पूर्ण जीवन की साध्य-साधना व्यवस्था है जो समाज को मर्यादित करता है और जिसके अन्तराल में योग या आध्यात्मिक साधना निहित है। प्रबुद्ध स्वार्थ से ही संयोजित अर्थ और काम का जीवन भले ही वन्यता और ग्राम्यता से उठकर नागरिक पदवी में पदार्पण करे, किन्तु उतनी मात्रा से उसे भारतीय संस्कृति के अन्तर्गत स्थान नहीं मिल सकता। विवेक मूलक नैतिकता में मर्यादित होने पर ही जीवन धर्म अथवा आदर्शोन्मुख संस्कृति में उन्नति और मुक्ति के पथ पर अग्रसर होता है। स्वार्थ-बुद्धि से प्रेरित, अर्थ-काम परायण नीति से संचालित, कर्म और भोग की व्यवस्था संस्कृति अथवा प्रकृति नहीं कही जा सकती। प्रकृति में भी अपनी निजी व्यवस्था होती है जिसका पशु अतिक्रमण नहीं करते। भोगप्रधान मानवीय व्यवस्था में किसी प्रकार की सहज मर्यादायें नहीं रहतीं, अपितु राजसिक-तामसिक बुद्धि के प्रभाव में उनमें आन्तरिकता का विकास अज्ञात नहीं है। भारतीय संस्कृति जिस कर्मयोग का प्रतिनिधित्व प्रदान करती है, वह ज्ञान व कर्म से प्रेरित धर्म है जिसकी साधना का मार्ग स्वधर्म के पालन से आरम्भ होकर चरम सत्य के साक्षात्कार और जीवन मुक्ति तक विस्तृत है। साध्य-साधन-ज्ञान की परम्परा ही वास्तव में भारतीय संस्कृति है।

भारतीय संस्कृति की तीसरी एवं सर्वोत्तम विशेषता है : 'भक्तियोग'। ज्ञानयोग से प्राकृत विषयों में आग्रह के शिथिल होने पर एवं कर्मयोग से असात्विक भावों के शिथिल होने पर ही भक्तियोग

का विकास सम्भव है। आत्मिक तथा परमात्मिक रस-रूपता की अनुभूति ही भक्तियोग है। जैसे ज्ञानयोग में सीमित विषय एक निःसीम ज्ञान के प्रतिबिम्ब बन जाते हैं और कर्मयोग में प्रत्येक कर्म आत्म-स्वातंत्र्य की अभिव्यक्ति, इसी प्रकार भक्तियोग में सभी अनुभूति रस की व्यञ्जक, सभी कर्म लीला के रूप बन जाते हैं। व्यावहारिक जीवन का इस प्रकार रूपान्तरण कला में तात्कालिक रूप से दृष्टिगोचर होता है। लीलामय 'कला' रूपी ज्ञान का रहस्य तब तक समझा नहीं जा सकता, जब तक एक मूल महाभाव की स्वतन्त्रता और सब विषयों की उस मूल-महाभाव में सकलता जैसी व्याप्त आन्तरिकता की समाप्ति न हो जाए।

आन्तरिक प्रीति के लिए विषयासक्ति रूप अविवेक से मुक्त होने की आवश्यकता है। उसके लिए स्वयं को तपाना आवश्यक है। विरह और तपस्या के मार्ग से ही प्रिय-मिलन सम्भव है, पर यह मात्र दुःख और सुख का चक्रवत् द्वन्द्व ही नहीं है जो इस लोक का नित्य नियम है, अपितु यह आदर्श मिलन वह है जहाँ चिदाकरण के भंग होने की आवश्यकता है।

ज्ञानयोग कर्मयोग एवं भक्तियोग जैसी विशेषताओं से संश्लेषित भारतीय संस्कृति का इतिहास यद्यपि अत्यंत व्यापक एवं श्रेष्ठ रहा है तथापि सदियों की राजनैतिक दासता, बढ़ती हुई आर्थिक विषमता, सामाजिक अंधविश्वास एवं रूढ़िवादिता, संकीर्ण कट्टर असहिष्णु साम्प्रदायिकता, शैक्षणिक बन्ध्यापन आदि के कारण यह इतनी दुर्दशा को प्राप्त हो गयी कि इसको किसी अवतार के संस्पर्श की आवश्यकता थी। गाँधी जी ठीक अवतार की तरह आये, वैश्वानर की तरह बढ़े और महामानव की तरह आत्मबलिदान कर महाशून्य में प्रविष्ट हो गये। उनकी शिक्षाओं ने भारतीय संस्कृति को पुनर्जागृत ही नहीं किया वरन् स्वयं अपने व्यक्तित्व

एवं कृतित्व में उन्होंने उसे व्यावहारित भी किया।

यह कहा जा सकता है कि गाँधीजी के जीवन के दो आधारभूत तत्त्व थे सत्य और अहिंसा। सत्य उनके जीवन का साध्य था तो अहिंसा इस साधन की प्राप्ति का साधन। उन्होंने सत्य के साथ नित नए प्रयोग किये तथा इन प्रयोगों के माध्यम से भारतीय संस्कृति का इतना सजीव चित्र प्रस्तुत कर दिया कि यह नवीन परिस्थितियों में सर्वसुलभ व सर्वग्राह्य बन कर पुनः जीवन्त हो उठा।

सत्य गाँधी जी के लिए कोई सिद्धान्त या दर्शन नहीं है। वह तो उनके लिए मानवता का चिरन्तर, शाश्वत व सनातन मूल्य है। सत्य सत्य है, उसका दर्शन क्या होगा? सत्य वह है जिसकी सत्ता हो, जिसका वास्तव में अस्तित्व हो। व्यवहार में मुझे जो कुछ आज जैसा न्याय योग्य व अनुकरणीय प्रतीत होता है वही धर्म है। भारतीय संस्कृति में भी धर्म की यही परिभाषा की गयी है। जो धारण करने योग्य है वह धर्म है। अर्थात् जीवन सर्वस्व ही है। सत्य वाणी, सत्य विचार एवं सत्य कर्म— ये तीनों एक ही तत्त्व के तीन पहलू हैं। विचार से जो सत्य जान पड़े, उसी के सविवेक आचरण को सत्कर्म एवं उसी का नम्रतापूर्वक कथन सत्यवाणी है। कर्महीन विचार बुद्धि—विलास है एवं सत्यविहीन वाणी शब्दों का अपव्यय एवं निरर्थक प्रपंच है। इसीलिए गाँधी जी ने सत्य के ऊपर कभी प्रवचन नहीं किया, सत्य का प्रयोग किया। सत्य का सिद्धान्त नहीं दिया, सत्य की साधना की जिसका अन्तरिम ध्येय आत्मानुभूति है। पराधीन देश में आत्मसंशोधन व प्रयोगों के द्वारा आत्मानुभूति की प्राप्ति एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। दुनियाँ भर में ऐसी मिसाल शायद ही मिले। गाँधी जी के नेतृत्व में भारत, जो कि सांस्कृतिक रूप से इतना समृद्ध था, की पराधीनता के कारणों का निरीक्षण, परीक्षण समीक्षण, निराकरण और संशोधन करना प्रारम्भ किया गया।

यह गाँधी जी की ही शिक्षा का परिणाम था कि यहाँ पर न तो कोई दीनहीन बना न ही संताप के मारे किसी ने बलवे किये अपितु वे तो आध्यात्मिक संशोधन किये और दुनियाँ के विचार में वृद्धि करने में अपना योगदान दिये। परतन्त्र देश से ऐसी अपेक्षा बिल्कुल नहीं की जाती कि उसमें ऐसी स्वतन्त्र बुद्धि हो, जिससे वह दुनियाँ पर असर डाले और दुनियाँ के सामूहिक विचार में नया—नया योग अंकित कराये। भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान में यदि उपरोक्त दृष्टिकोण से मूल्यांकन करें तो गाँधी जी का योगदान अवर्णनीय है।

पुनः सत्य के प्रयोग को, सत्याचरण को गाँधी जी ने मात्र वैयक्तिक जीवन का ही शृंगार नहीं माना अपितु इसको सामाजिक—राजनीतिक जीवन का भी अविभाज्य अंग माना। उनका 'सत्याग्रह' किसी व्यक्ति विशेष का सत्य के लिए सात्विक आग्रह नहीं, अपितु सामाजिक जीवन के लिए सत्य की अनुभूति का मार्ग है, जिसकी प्राप्ति के लिए उत्कृष्ट नैतिक जीवन आवश्यक है। गाँधी जी का जीवन इसकी मिसाल है। उनका जीवन मात्र विचार का नहीं, आचार का भी था यँू कहें कि आचार और विचार का सम्मिलित रूप था। भारतीय संस्कृति में कर्मयोग की जो परिभाषा की गयी है वस्तुतः वह यही विचार व आचार का, आदर्श व यथार्थ के लिए ऐक्य है, जिसकी पूर्णानुभूति भक्तियोग में होती है।

गाँधी—दर्शन में भी कर्मयोग की साधना सत्याग्रह प्रेरित प्रतीत होती है। गाँधीजी के अनुसार सत्य का साधक यह जानेगा कि सत्य अनन्त है। जिस पर आग्रह है सत्य उसके जितना ही नहीं है। इसीलिए आग्रह रखकर भी सत्याग्रही भद्र और सविनय रहेगा। सत्याग्रही व सत्याग्रह के बीच विवशता है और अभिन्नता है, तर्क और कर्तृत्व नहीं है। सत्याग्रह तो मनुष्य के पास वह आयुध है, जो ईश्वरीय है। स्थिति के साथ व्यक्ति का सम्बन्ध

इतना उठ जाता है कि मानों समष्टि के सन्दर्भ में जा मिलता हो। मानो व्यक्ति का आग्रह स्वयं परमेश्वर से हो परिस्थिति से रह ही न गया हो। सत्याग्रह वह कर्म है जिसका साधन तो सांसारिक है परन्तु ध्येय पूरी तरह आत्मिक है। कर्मयोग का पर्यावसान यहीं पर भक्तियोग में हो जाता है। ऐसी स्थिति में साधक चरम् आनन्द की अनुभूति करता है। और यही अनुभूति ही भारतीय संस्कृति में भक्तियोग कहलायी। ऐसी भक्तिभावना अथवा अनुभूति होने पर ही बुद्ध मुस्कराते हैं तथा सत्याग्रही बड़ी आसानी से शारीरिक कष्ट सहन करने को तत्पर रहता है क्योंकि उसे इस पीड़ा में जिस आनन्द की अनुभूति होती है, उसकी अभिव्यक्ति भक्ति रस ही कर सकता है। गाँधी जी के नेतृत्व में जितने भी आन्दोलन हुए, यथा—असहयोग आन्दोलन, सविनय अवज्ञा आन्दोलन तथा भारत छोड़ो आन्दोलन इन सभी में भारतीय जनता की जो सत्याग्रही प्रवृत्ति थी जिसमें उनका समर्पण बिना किसी प्रतिवार के था, क्या वह भक्ति रस में डूबे भक्ति-गण की अनन्य अनुभूति नहीं थी?

आत्मज्ञान के अनुबन्धी नैतिक क्षेत्र में अहिंसा को सर्वोपरि धर्म मानना भी भारतीय परम्परा की सर्वविदित विशेषता है, जिसका विस्तृत अध्ययन गाँधी दर्शन में दृष्टिगोचर है। स्वयं को साध्य एवं अन्य को साधन बनाते हैं, तो अशांति बढ़ती है लेकिन जहाँ दूसरे सब मेरे लिए साध्य हो जायें और मैं उनके हित-निमित्त साधन हो जाऊँ, तो यह 'स्वयं' को विसर्जित करने की भावना ही अहिंसा है। गाँधी-दर्शन में अहिंसा की उपरोक्त धारणा अहिंसा का दर्शन नहीं, उसकी तकनीक है। उसका तत्त्वज्ञान नहीं, उसका प्राविधिक रूप है। परिणामतः उन्होंने अहिंसा को भूतदया एवं परोपकार का सौम्यतम व्यक्त सदगुण ही नहीं माना, इसको सामाजिक धर्म बना दिया।

ऐसा नहीं है कि गाँधी जी भारतीय संस्कृति के मूलतत्त्व से परिचित नहीं थे। वे भलीभाँति जानते थे कि आत्मत्याग व अहिंसा का आदर्श भारत की सनातन परम्परा रही है। सत्याग्रह, असयोग एवं सविनय कानून-भंग इत्यादि शाखाओं का आविर्भाव उसी अहिंसा रूपी पुरातन वटवृक्ष में से हुआ है। हिंसामय जगत् में गाँधी जी ने अहिंसा जैसी धारणा को अपनाने का आह्वान किया। उनका विश्वास था कि हिंसा से जब दुनियां ऊब जायेगी और अपनी मुक्ति का मार्ग ढूँढ़ेगी तो अहिंसा ही उसका मार्ग प्रशस्त करेगी। सक्रिय रूप में अहिंसा का अर्थ है ज्ञानपूर्वक कष्ट सहना। उसका अर्थ अन्यायी की इच्छा के खिलाफ अपनी समस्त शक्ति लगा देना है। जीवन के इस नियम के अनुसार चलकर तो कोई अकेला आदमी भी अपने सम्मान, धर्म और आत्मा की रक्षा के लिए किसी अन्यायी साम्राज्य के सम्पूर्ण बल को चुनौती दे सकता है और इस तरह इस साम्राज्य के नाश या सुधार की नींव रखी जा सकती है।

गाँधी जी कहते हैं कि यदि वे भारत को अहिंसा अपनाने के लिए कह रहे हैं तो इसका कारण यह नहीं है कि भारत कमजोर है। अपितु भारत इस बात को पहचान ले कि वह शरीर नहीं, अमर आत्मा है, जो हर एक की शारीरिक कमजोरी के ऊपर उठ सकती है और सारी दुनियां को चुनौती दे सकती है। इस प्रकार अहिंसा को गाँधी जी ने मात्र परिभाषित ही नहीं किया अपितु विजयी बनाकर दिखाया भी। अतः भारतीय संस्कृति के अहिंसामय पक्ष को पुनर्जीवित करने में गाँधी जी का योगदान महत्वपूर्ण है।

सत्य, अहिंसा के अतिरिक्त गाँधी जी ने राजनीति, अर्थनीति, सामाजिक व्यवस्था, स्त्री व दलित उत्थान इत्यादि की जो व्याख्या की मानो

शेष भाग पृष्ठ 49 पर

भूमण्डलीकृत भारत का मूल्य-विमर्श

डॉ० अमित कुमार सिंह

भूमण्डलीकृत भारत में जिन मूल्यों का अधिकाधिक प्रभाव देखा जा सकता है, वे मूलतः अमेरिकी उत्पाद, अमेरिकी जीवन शैली और अमेरिकी आदर्शों का अनुसरण करते हैं। सामान्यतः इसे ही अमेरिकीकरण की संज्ञा दी जाती है। अधिकांश भारतीय आज अमेरिकीकरण की बयार में बह रहे हैं या फिर इस बयार में बहने को उत्सुक हैं। किसी प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय का प्रोफेसर हो या बहुराष्ट्रीय कम्पनी में कार्यरत सी०ई०ओ० या फिर तकनीकी व्यवसायिक शिक्षा प्राप्त करने वाला कोई युवा-छात्र, प्रत्येक व्यक्ति के अंतर्स में अमेरिकी ख्वाब पलता दिखाई देता है। इस अमेरिकी सपने को बुनने और अंततः उसे पूरा करने में कितनी कुंठाओं, चिंताओं, हताशा-निराशा का शिकार बनना पड़ता है, उससे हम सभी भिन्न हैं। इसके उल्लेख से भिन्न हमारा उद्देश्य इस अमेरिकी समाज के मूल्यों को उद्घटित करना है जो किसी भी आम-व्यक्ति की दृष्टि से ओझल नहीं रहे हैं। अमेरिकी राष्ट्र और समाज भयंकर मूल्य-संकट के दौर से जूझ रहा है। कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं—

- * अमेरिका में साढ़े तैंतीस प्रतिशत बच्चे माता-पिताकशुदा माँ-बाप के बच्चे हैं।
- * अमेरिका में बीस प्रतिशत महिलाएँ बिन-ब्याही माँ बन जाती हैं।
- * अमेरिका में समलैंगिकों की संख्या तीस प्रतिशत से भी अधिक है।
- * अमेरिका में करीब तीस प्रतिशत जनसंख्या यौन-संक्रामित है।
- * अमेरिका के न्यूयार्क जैसे विकसित राज्य के अस्सी प्रतिशत लोग नियमित रूप से नींद की गोलियों का सेवन करते हैं।

* अमेरिकी समाज एक हिंसक समाज है। अमेरिका में रोजाना आठ बच्चे किसी के द्वारा या खुद अपनी बंदूक चलने से प्राण गंवाते हैं।

* राष्ट्र के स्तर पर भी ऐसी ही हिंसक प्रवृत्ति देखी जा सकती है। उदाहरण स्वरूप अमेरिका का प्रतिरक्षा बजट इतना है कि उसके बाद के बीस शक्तिशाली देशों का भी मिलकर नहीं है।

* अमेरिकी चुनावों में गर्भपात और समलैंगिकता जैसे मुद्दे प्रमुखता से उभर कर सामने आते हैं।

* अमेरिका में इसाई कट्टरपंथ तेजी से उभर रहा है। गैर इसाई संस्कृतियों का सम्मान, धर्मविरुद्ध वैज्ञानिक शोध की पैरवी और स्त्री तथा बच्चों के अधिकारों की माँग करने वाले को बड़ी घृणा की दृष्टि से देखा जाता है।

* अधिकांश अमेरिकी यह मानते हैं कि विश्व परिदृश्य में अमेरिका की भूमिका सकारात्मक नहीं है। अमेरिका में ही वर्ष 2007 में अमेरिकी रवैये को खराब बताने वालों की संख्या 69% से भी अधिक है।

संक्षेप में अमेरिकी मूल्यों का अनुसरण अनुकरणीय नहीं है, परन्तु भारत भी मूल्य संकट से जूझ रहा है। भारत में भूमण्डलीकरण के प्रभावों के फलस्वरूप जो मूल्यों का संकट दिखाई दे रहा है, (इसे हम सभी महसूस करते हैं) सामान्यतः इसके विरुद्ध दो-तीन प्रकार की प्रतिक्रियाएँ देखने को मिलती हैं—

क) अधिकांश सांस्कृतिक व धार्मिक संगठन एक नकारात्मक एवं कुंठित आक्रामकता का प्रदर्शन करते हैं। इनका मुख्य उद्देश्य हिंसा के द्वारा संस्कृति के नकारात्मक प्रभावों को रोकने का दर्शन निहित होना है। भारत में इसके कई रूप देखे जा सकते हैं। मसलन वेलेन्टाइन डे का विरोध, मुस्लिम महिलाओं

को जबरदस्ती बुर्का पहनने का फरमान, सिखों द्वारा "जो बोले सो निहाल" जैसी फिल्मों का विरोध, इसाईयों द्वारा 'द विंची कोड' जैसे उपन्यास का विरोध, सांस्कृतिक विरोध के ऐसे कई प्रतिरूप देखे जा सकते हैं। इन विरोध प्रदर्शनों से सस्ती लोकप्रियता अवश्य मिलती है लेकिन ये कृत्य इस मूल्य-संकट को रोकने में सफल दिखाई नहीं देते हैं। इनके पास वैकल्पिक विजन का भी अभाव दिखाई देता है।

ख) विभिन्न धर्मों के धार्मिक गुरुओं द्वारा इस मूल्य-संकट की नकारात्मकता की सदैव निंदा एक आम प्रवृत्ति है। इस घनघोर निंदा का कोई सकारात्मक प्रभाव नहीं दिखाई पड़ता है। अपनी सहज-स्फुरणा से हम सभी जानते हैं कि सही क्या है, गलत क्या है। ग) भारत में समानान्तर रूप से सहज एवं सुन्दर जीवन की खोज के कई प्रयास चल रहे हैं। येसे गंभीर प्रयास संख्या में कम हैं लेकिन इनका प्रभाव व्यापक है। मीडिया और सस्ती लोकप्रियता की दृष्टि से ओझल येसे सारे प्रयास जीवन की गुणात्मकता में सकारात्मक परिवर्तन लाने में सफल भी हो रहे हैं।

ऐसी परिस्थितियों में सही मूल्यों को अनुकरणीय बनाने के लिए अपरिहार्य है— एक ऐसी व्यवस्था निर्मित करना, जो जीवन को सुन्दर मूल्यों से युक्त बनाए।

ऐसे सुन्दर मूल्यों को जीवन में सहजता से कैसे उतारा जाए? कौन सी व्यवस्था इन मूल्यों को जीवन-दर्शन के साथ-साथ जीवन-शैली का अंग बना सके, यह एक अहम् विषय है।

मूल्य-अनुशीलन की प्रयोगशाला के रूप में सबसे महत्वपूर्ण भूमिका परिवार की हो सकती है।

परिवार — प्रत्येक परिवार स्वाभाविक रूप से एक मूल्य अनुशीलन केन्द्र होता है। कोई भी बच्चा आरम्भिक मूल्य स्वतः स्फूर्त तरीके से अपने परिवार में ही सीखता है। अगर हम बच्चों के पालन-पोषण पर

दृष्टिपात करें तो यह पाते हैं कि बच्चों को आरम्भ से ही भय, घृणा, वैमनस्य और कुंठा की शिक्षा दी जाती है। बच्चा जब शरारत करता है, तो माँ उसे बिल्ली के नाम से भयभीत करती हैं। बच्चा जब सोने में समय लेता है तो उसे भूत से भयभीत किया जाता है। बच्चा जब कुछ नए कार्य की शुरुआत करता है तो उसे चोट लगने या दुर्घटना की आशंका से भयभीत किया जाता है। भय से कोई बच्चा इतना ज्यादा भयभीत कर दिया जाता है कि असुरक्षा बोध उसका स्थायी भाव हो जाता है। बचपन की घटनाओं का व्यक्ति पर बहुत ही ज्यादा प्रभाव पड़ता है। यहाँ नेपोलियन बोनापार्ट का उदाहरण देना प्रासंगिक होगा। नेपोलियन की छाती पर बाल्यावस्था में एक बिल्ली चढ़ गई थी, फलतः वह जीवन भर सबसे ज्यादा भयभीत बिल्ली से रहा। यह भी जनश्रुति है कि वाटरलू के युद्ध में उसके शत्रु ने इतनी बिल्लियाँ छोड़ दीं कि वह दुबारा लड़ ही नहीं पाया। बच्चों को भय की नहीं वरन् प्रेम की शिक्षा दी जानी चाहिए।

भय के साथ-साथ बच्चों को हम सदैव ईर्ष्या की शिक्षा देते हैं। हम अक्सर शिक्षित व अशिक्षित परिवारों में ऐसे वाक्य सुन सकते हैं कि फलां तुमसे जल्दी दूध पीता है, फलां पढ़ने में तुमसे ज्यादा तेज है, फलां तुमसे होशियार है आदि। ऐसी तुलना से बच्चे में सदैव ईर्ष्या का बीज तेजी से वट-वृक्ष बनता रहता है। बच्चा यह समझ ही नहीं पाता है कि उसकी स्वतंत्र हैसियत क्या है? वह स्वयं में क्या है? यही बच्चा जिन्दगी भर तुलना की ग्रन्थि से न केवल पीड़ित रहता है बल्कि व्यथित व कुंठित भी रहता है।

परिवार में भय व ईर्ष्या की नकारात्मक शिक्षा (भले अनजाने में) से कुंठित करने के साथ-साथ उसमें सदैव धर्म, जाति, क्षेत्र एवं भाषा के नाम पर मूल्य जबरदस्ती थोपे जाते हैं। हिंदू का बेटा हिन्दू होगा, मुसलमान का बेटा मुस्लिम होगा, कोई सिख

होगा, कोई इसाई होगा यह बचपन से ही निर्धारित कर दिया जाता है। यह बच्चों के साथ किया गया सबसे बड़ा अत्याचार है। बच्चा जब तक स्वयं समझदार नहीं हो जाए, उस पर धर्म का कोई भी मूल्य नहीं थोपा जाना चाहिए। इसके पीछे मेरा सीधा एवं सपाट तर्क यही है कि बच्चा पहले विवेकशील एवं चिन्तनशील बने, उसके पश्चात् ही उसके धर्म की बारी आनी चाहिए। धर्म भी व्यक्ति का स्वतंत्र चयन होना चाहिए। ऐसे ही बच्चों को जाति भाषा व क्षेत्र की संकीर्णताओं से बचाना चाहिए। आज विश्व में धार्मिक लोगों की संख्या के साथ-साथ धार्मिक उन्माद बढ़ने का सबसे बड़ा कारण यही है कि थोपे गए मूल्यों के फलस्वरूप बच्चा मानवता के मूल्य से वंचित रह जाता है।

निःस्वार्थ सम्बन्धों की बजाए परिवार में स्वार्थ और उपयोगिता की शिक्षा दी जाती है। यह पापा हैं, यह चाचा हैं..... यह सब सिखाया जाता है। लेकिन साथ ही साथ यह भी सिखाया जाता है कि बगल वाली आंटी खराब है, उस बच्चे के साथ मत खेलो.....आदि। बच्चे को शुभ की शिक्षा देनी चाहिए। सभी अच्छे हैं, शिक्षा का यही आधार होना चाहिए। वर्तमान स्वरूप में परिवार की शिक्षा नकारात्मकता पर कहीं ज्यादा आधारित दिखाई पड़ती है।

यही नहीं परिवार में बच्चों को जो सफलता के उदाहरण दिए जाते हैं, वे विशुद्ध भौतिक और आर्थिक होते हैं। मसलन धीरुभाई अम्बानी जीरो ग्रुप (निर्धन) के सदस्य होने के बाद भी अरबपति हो गये, यह अवश्य सिखाया बतलाया जाता है, लेकिन मौत को वह भी नहीं टाल सके, जीवन के सत्य के समक्ष भौतिक प्रचुरता बौनी है, यह सत्य नहीं बतलाया जाता है। मुकेश अम्बानी और अनिल अम्बानी का उदाहरण देने से पूर्व यह भी सिखाया जाना चाहिए कि ये दोनों भाई प्रेमपूर्वक नहीं रह सके। परिवार को प्रेम की शिक्षा देनी चाहिए। मानवता की शिक्षा देनी

चाहिए। संस्कार की शिक्षा देनी चाहिए। वर्तमान स्वरूप में परिवार प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः भौतिकता की ही शिक्षा देते हुए मालूम पड़ते हैं। परिवार में परस्परता की शिक्षा बड़ी सहजता से प्रदान की जा सकती है। संसार में निरन्तर बढ़ते हुए दुःख का सबसे बड़ा कारण यही है कि व्यक्ति अपने सीमित दायरों में संकुचित होता जा रहा है। प्रकृति में परस्परता है और दैनिक जीवन में भी परस्परता सर्वसुलभ है। एक सामान्य व्यक्ति का जीवन कई व्यक्तियों के सामूहिक प्रयास से संचालित होता है। हम सब्जी वाले से सब्जी खरीदते हैं, दूधिया दूध देता है, दुकानदार रोजमर्रा की वस्तुएँ विक्रय करता है, स्कूल व कालेज में बच्चा पढ़ता है.....आदि। ऐसे सैकड़ों कार्य हैं जिससे मनुष्य का जीवन संचालित होता है। सामान्य जीवन में भी परस्परता का जो नियम दिखाई देता है, उसे समझना आवश्यक है। इस परस्परता को समझने के लिए बहुत बड़ी डिग्री या बौद्धिकता की आवश्यकता नहीं है। इस परस्परता को सहज-बुद्धि से भी समझा जा सकता है। छोटे-छोटे बच्चों को आरम्भ से ही परस्परता का पाठ पढ़ाया जाना चाहिए। संप्रति बच्चे स्वयं में सिमटते जा रहे हैं। व्यक्तिगत परिवार में बच्चों को पर्याप्त समय और स्नेह की छाँव नहीं मिल पाती है। यह बच्चा अधिकांश समय टी0वी0 के सामने गुजारता है। माँ-बाप भी बच्चों को समय से ज्यादा खिलौने देने में विश्वास करने लगे हैं। खिलौने देना माँ-पिता के लिए समय देने से कहीं ज्यादा सहूलियत भरा होता है। बच्चों में इस प्रक्रिया से एक वस्तु-प्रेम उमड़ता है और उसका "मैं" पन का भाव बहुत ज्यादा हावी होता जा रहा है।

बच्चों को परिवार के स्तर पर ही परस्परता का मूल्य सिखाया जा सकता है। बच्चों को मंहगे-सहगे खिलौने देने के साथ-साथ उन्हें गरीबी-बालकों को अपने पुराने वस्त्र और खिलौने देना भी सिखाया चाहिए। जन्मदिन में बच्चे को सनायास

बिताना सिखाना चाहिए, उपहार देना सिखाना चाहिए।

बच्चों को प्रकृति का नियमित दर्शन कराना चाहिए, उसका पाठ सिखाना चाहिए। प्रकृति परस्परता का पाठ सिखाने का सबसे सरल और सशक्त माध्यम हो सकता है।

परिवार में ध्यान की शिक्षा देनी चाहिए। ध्यान न हिन्दू है, न मुसलमान है न ब्राह्मण है, न शूद्र, बच्चों को आरम्भ से ही ध्यान का संस्कार देना चाहिए। यह बुद्धि को तीक्ष्णता और हृदय को संवेदनशीलता प्रदान करता है। संवेदनशीलता से बड़ा कोई मूल्य नहीं है और मानवता से बड़ी कोई शिक्षा नहीं है। साथ ही साथ परिवार के वरिष्ठजनों का व्यवहार स्वयं पारदर्शी, विश्वनीय एवं ईमानदारी से युक्त होना चाहिए। बच्चा जब घर में ही अपने माता-पिता के पाखंड को देखता है, तो अनजाने में वह भी एक पाखण्डी बन जाता है। कहना गलत नहीं होगा कि मूल्यों की शिक्षा स्वयं से ही आरम्भ की जा सकती है। भारत में पहले संयुक्त परिवार की प्रथा थी जबकि आज व्यक्तिगत परिवारों की संख्या में तेजी से वृद्धि हो रही है। संयुक्त परिवार और व्यक्तिगत परिवारों की अपनी-अपनी विशेषताएँ भी हैं और कमियाँ भी, लेकिन दोनों के चरित्र में एक मूलभूत समानता देखी जा सकती है। संयुक्त परिवार में एक सुव्यस्थित साहचर्य अवश्य दिखाई देता है, लेकिन संयुक्त परिवार में समान्यतः निजता का सम्मान किए बगैर निर्णय को थोपे जाने की प्रवृत्ति इतनी निरंकुश होती जा रही है कि इसमें साहचर्य की कमी देखी जा सकती है। व्यक्तिगत परिवार में निजता की प्रवृत्ति का सामान्य स्नेह सूखता जा रहा है। यही नहीं दोनों ही व्यवस्थाओं में विचार-विमर्श की परम्परा नहीं दिखाई पड़ती है। परिवार में मूल्य-विमर्श का उचित सम्मान और स्थान होना चाहिए। असहमति की स्वीकृति और मूल्यों की प्रासंगिकता का प्रश्न पारिवारिक संवाद का शीर्ष एजेण्डा होना

चाहिए। हमारे परिवारों में मूल्य थोपे जाने के बजाए मूल्यों की उपादेयता और प्रासंगिकता का विचार-विमर्श होना चाहिए।

शिक्षा : प्रत्येक मानव शिक्षा-व्यवस्था से गुजरता है। फलतः इस व्यवस्था का महत्त्व गहरा और दूरगामी होता है। लार्ड मैकाले ने वर्तमान शिक्षा व्यवस्था की नींव रखी थी। मूल्य-संकट की शिक्षा भी एक महत्त्वपूर्ण समाधान है। उस समय से लेकर आज तक शिक्षा का उद्देश्य नहीं बदला है। पहले शिक्षा-व्यवस्था का उद्देश्य क्लर्क पैदा करना था और आज शिक्षा-व्यवस्था बाजार की चाकरी करा रही है। बाजार और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के उद्देश्य से कामगार तैयार किए जा रहे हैं। आज पैकेज बड़ा लोकप्रिय शब्द है। शिक्षा की उपादेयता और प्रासंगिकता उसके बाजार-मूल्य से आँकी जा रही है। जितना बड़ा पैकेज, उतनी सफल शिक्षा। शिक्षा-व्यवस्था में क्लर्क बनाने से ग्लोबल कम्प्यूटर कुली बनाने तक कोई भी गुणात्मक अंतर नहीं आया है। बहुराष्ट्रीय कम्पनी में कार्यरत व्यक्ति भी एक कुली की तरह मालूम पड़ता है, जो एअर कंडीशन में काम करता है, मॉल में शॉपिंग करता है, फाइव स्टार होटल में खाता है, और विदेश यात्रा करता है। इस व्यक्ति की स्वतंत्रता और स्थान एक सामान्य कुली से बेहतर दिखाई नहीं पड़ता है। आज मूल्य-शिक्षा की बात भी अलोकप्रिय और असंगत मालूम पड़ती है। यह शिक्षा मानव जीवन के सम्पूर्ण उद्देश्यों को विकसित करने में पूर्णतया असफल दिखाई देती है। आखिर कैसे?

पहले बुद्धिमत्ता (IQ) की बात होती थी अब भावनात्मक सामंजस्य (EQ) की बात होने लगी है लेकिन सबसे महत्त्वपूर्ण है आध्यात्मिक स्पष्टता SQ (Spiritual Quotient)। जीवन का उद्देश्य क्या है? जीवन क्यों और कैसे? यह सबसे पहले आना चाहिए। वर्तमान शिक्षा तीन तरह से त्रुटिपूर्ण है—

प्रथम— यह मनुष्य को मशीन की तरह विकसित

करने पर जोर देती है। मशीन यानि केवल उपयोगितापूर्ण, बुद्धिमत्ता।

द्वितीय— यह जीवन की आध्यात्मिक आधारशिला से संबंधित नहीं है। जीवन, क्या, क्यों और कैसे? यह उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना बुद्धिमत्ता का विकास। दुनिया में जितनी बुद्धिमत्ता बढ़ी है, उतनी ही पागलपन, विक्षिप्तता, आत्महत्या, आत्मघात और हिंसा बढ़ी है, फलतः आज यह आवश्यक है कि शिक्षा को केवल जीवन के साधन से सम्बन्धित न होकर साध्य उदारता, मानवता, प्रेम, विश्वास आदि से भी संबंधित होना चाहिए।

तृतीय— वर्तमान शिक्षा प्रणाली बौद्धिकता से संबंधित है। यह पूर्णतया मानसिक है। प्रोफेशनल शिक्षा भी भौतिकता से संबंधित है। भौतिकता गलत नहीं है और न ही बौद्धिकता, लेकिन शिक्षा को चेतना के विज्ञान से संबंधित होना चाहिए। आज दुनिया में बड़ी-बड़ी इमारतें और पुल उतने ही अनिवार्य हैं जितना इसमें खड़े होकर गुनगुनाने वाला व्यक्ति। शिक्षा को जब तक चेतना से नहीं जोड़ा जाएगा, यह इंसान को जन्म नहीं दे सकती। इंसान विचारक हो सकता है, तकनीकी रूप से दक्ष हो सकता है लेकिन उसका काव्यमय, संगीतमय, संवेदनशील होना, सुन्दर दुनिया के स्वप्न को साकार करने के लिए उतना ही आवश्यक है।

शिक्षा के रंग-ढंग को बदलने के साथ-साथ यह भी देखा जाना चाहिए कि क्या लड़के/लड़कियों, पुरुष/स्त्रियों के लिए एक ही प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था उचित है?

स्त्री/पुरुष न केवल बायोलोजिकल रूप से भिन्न हैं बल्कि दोनों के व्यक्तित्व में बुनियादी रूप से मनोवैज्ञानिक अन्तर भी है। सामान्यतः पुरुष ज्यादा तार्किक होता है। स्त्री हृदय से ज्यादा नजदीक होती है। वर्तमान शिक्षा इस बुनियादी अंतर की अनदेखी करती है। हमारी शिक्षा

मुख्य रूप से तार्किकता, बौद्धिकता और विवेकशीलता को विकसित करती है। इस शिक्षा का प्रभाव यह हुआ है कि समग्र सभ्यता पुरुष की धुरी पर खड़ी हुई है। इसके प्रभाव स्वरूप विज्ञान की प्रगति हुई है लेकिन साथ ही साथ युद्ध, उन्माद और हिंसा एक स्वाभाविक घटना बन गई है। स्त्रियों को भी पुरुष के ढंग से शिक्षा दी जा रही है। इसका मनोवैज्ञानिक दुष्प्रभाव यह पड़ा है कि स्त्रियों की प्राकृतिक विशेषता (उदारता, प्रेम, दया) की समाप्ति का संकट खड़ा हो गया है। स्त्रियाँ वैज्ञानिक बन रही हैं, अंतरिक्ष में जा रही हैं,..... प्रत्येक क्षेत्र में सफलता के झंडे लहरा रही हैं, लेकिन साथ ही परिवार की बुनियादें कमजोर हो रही हैं। मातृत्व का संकट गहराता जा रहा है। स्त्रियाँ माँ बनने से बच रही हैं या खुश नहीं हैं। स्त्री परिवार की धुरी होती है और सभ्यता का मुख्य आधार। ऐसे में स्त्रियाँ घर से बाहर न निकलें, विकसित न हों प्रगति न करें मेरा ऐसा कोई आशय नहीं है। दरअसल शिक्षा-व्यवस्था स्त्रियों और पुरुषों के लिए अलग-अलग होनी चाहिए। स्त्रियों के लिए ऐसी शिक्षा व्यवस्था का आयोजन होना चाहिए जो न केवल उनके नैसर्गिक गुणों को विकसित करे बल्कि कुछ क्षेत्रों में स्त्रियों को ही महत्त्व दिया जाना चाहिए जो उनके स्वभाव के अनुकूल हों। मसलन शिक्षा के क्षेत्र में, मेडिकल के क्षेत्र में आदि। स्त्रियों के लिए पृथक शिक्षा-व्यवस्था की बात हमें अटपटी लग सकती है लेकिन इसकी आवश्यकता पर अवश्य ही मौलिक-चिन्तन किया जाना चाहिए।

इसके साथ-साथ धर्म भी एक महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है। भारत एक प्राचीन सभ्यता एवं संस्कृति है। धर्म व्यक्ति का अचेतन अंतःसंनिहित करता है। फलतः धर्म भी मूल्य-संकट का एक वैकल्पिक समाधान प्रस्तुत कर सकता है। •

कठिनाइयों का सामना कैसे करें?

डॉ० सोनाली सिंह

कठिनाई जब आपके सामने आती है, तो सर्वप्रथम, आप आश्वस्त हो जाइए कि आप प्रगति के मार्ग पर अग्रसर हैं— और लक्ष्य करीब है। विश्व में कोई भी सृजन, आविष्कार या विकास बिना कठिनाइयों के नहीं हुआ है। यह मनुष्य जीवन जो कि ईश्वर द्वारा प्रदत्त सर्वश्रेष्ठ उपहार है, परिवर्तनशील है तथा परिवर्तन नवीन अवसरों के साथ-साथ चुनौतियों को भी जन्म देता है। कठिनाइयाँ हमें उद्वेलित करती हैं क्योंकि हम यह मान लेते हैं कि ये वो प्रतिकूल परिस्थितियाँ हैं, जो हमारे जीवन में अवरोध, मुश्किलें या बाधाएँ उत्पन्न करती हैं तथा जिसके फलस्वरूप मनोनुकूल परिवर्तन नहीं होने की वजह से हमें मानसिक पीड़ा या तनाव होता है। जीवन में कठिनाइयों के अनेक कारण हो सकते हैं जैसे विफलता, प्रियजनों की मृत्यु या बीमारी, अपमान, भौतिकता, निर्धनता, विचारों में तालमेल का अभाव इत्यादि।

जिस प्रकार परिवर्तन कठिनाई की जननी है, उसी प्रकार कठिनाई का अन्त भी परिवर्तन है— वो परिवर्तन जो हमें अपने आप में लाना होगा। परन्तु अपने आप को बदलना, वह भी सही दिशा में, यही सबसे बड़ी कठिनाई भी है। प्रसिद्ध लेखक जॉन कैपोजी के अनुसार, “रास्ते पर आने वाली मोड़ राह का अन्त नहीं है..... जब तक कि आप उस मोड़ पर मुड़ने से ही इंकार न कर दें।”

कठिनाइयों का सामना करने के लिए सशक्त व्यक्तित्व एवं स्वस्थ मानसिकता का होना अनिवार्य है, जिसका परिचायक स्पष्ट एवं विवेकपूर्ण चिन्तन, आत्मविश्वास, निर्णय कौशल एवं अदम्य इच्छा शक्ति है। परन्तु समकालीन समाज में हम भौतिक रूप से तो समृद्ध हैं परन्तु मानसिक एवं शारीरिक रूप से निर्धन होते जा रहे हैं। इसके फलस्वरूप कठिनाइयों

का सामना करने की क्षमता हमारे भीतर क्षीण होती जा रही है। छोटे-छोटे विषयों पर विचलित होना, मानसिक तनाव, क्रोध, अवसाद, उदासीनता, अकेलापन एवं आत्महत्या, विशेषकर स्कूल के छात्रों में आत्महत्या की बढ़ती घटनाएँ इस बात की द्योतक हैं। अधिकांशतः लोग इस भ्रम में जीते हैं कि कठिनाई उनके जीवन में कभी नहीं आयेगी, इसलिए वे उसके लिए कोई तैयारी नहीं करते। सर्वप्रथम, हमें जीवन के इस शाश्वत सत्य को स्वीकारना होगा कि कठिनाइयाँ जीवन का अभिन्न अंग हैं। ये केवल उन लोगों के जीवन में नहीं आतीं, जो या तो मृत हैं या फिर हार मान चुके हैं। जिस प्रकार ग्रीष्म, वर्षा एवं शीत ऋतुएँ आती हैं और फिर चली जाती हैं, उसी प्रकार कठिनाइयाँ भी हमेशा नहीं रहतीं, वे सीमित अवधि तक होती हैं। परन्तु मुश्किल घड़ी में ही हमें अपने अन्दर सुप्त शक्ति का एहसास होता है। सर फ्रांसिस बेकन के अनुसार, “जिस व्यक्ति पर विपत्ति नहीं आई है, उसने अपनी शक्ति को अभी पूरी तरह जाना नहीं है।” हर समस्या में सकारात्मक संभावनाएँ छुपी होती हैं। बिली जॉली के अनुसार, “हर बाहर जाने का द्वार प्रवेश द्वार भी होता है। जब भी आप एक द्वार से निकलते हैं तो दूसरी जगह पर पहुँच जाते हैं। एक ऐसी जगह जो नई संभावनाओं और अवसरों से भरी है।” परन्तु इसे समझने के लिए हमें अपने दृष्टिकोण एवं जीवन शैली में सकारात्मक परिवर्तन लाना होगा जिससे हम कठिनाइयों का सामना करने के लिए सशक्त हो सकें। सर्वप्रथम, हमें कठिनाइयों का सामना करने से पहले उसे स्वीकारना होगा क्योंकि “सामना करना” से कोई द्वन्द्व या संघर्ष प्रतीत होता है और तब हम React (प्रतिक्रिया) करते हैं। जबकि कठिनाई के समक्ष हमें Respond करना चाहिए, जिसमें हम

परिस्थितियों से प्रभावित हुए बिना, स्पष्ट एवं तार्किक रूप से उसका जवाब या समाधान देते हैं।

अक्सर, कठिनाइयों के सामने हम आतंकित होकर, स्पष्ट रूप से सोचने की क्षमता खो देते हैं जिससे हम गलत निर्णय लेते हैं और आत्महत्या तक का विकल्प चुन लेते हैं। कमजोर व्यक्तित्व कठिनाइयों के आने पर सुनिश्चित तैयारी के अभाव में उसका शिकार हो जाते हैं। कायर व्यक्तित्व मैदान छोड़ कर भाग जाते हैं। पर साहसी एवं संकल्पवान व्यक्तित्व शान्त, स्थिर चित्त एवं सकारात्मकता के बल, कठिनाइयों पर सवार हो, अपने लक्ष्य की ओर उन्मुख होते हैं। यह अत्यन्त आवश्यक है कि समस्या के आने पर, हम थोड़ा रुक कर संभावित विकल्पों की विवेचना करें और उसे एक डायरी में नोट कर लें। विकल्पों की तलाश करते समय हम समस्या को बढ़ा-चढ़ा कर न देखें, नहीं तो वे ज्यादा भयानक लगेंगी।

कठिनाई के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण तभी हो सकता है जब हमारी जीवन-दृष्टि सही हो। प्रथमतः, हम यह जानें कि हम क्या हैं? हम अपने आप को दुनिया का सबसे आवश्यक मनुष्य समझें। अपने जीवन से प्रेम करें तथा खुद को सम्मान दें। हर एक के जीवन में एक सपना होना चाहिए जो इतना बड़ा हो कि बड़ी से बड़ी कठिनाई भी उसके समक्ष राई के कण जैसी लगे। लक्ष्य के प्रति एकाग्रचित्तता हमें हार मानने नहीं देगी। इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हमें चींटी के जीवन से मिलता है।

सकारात्मक जीवन दृष्टि के लिए आवश्यक है— संभावनापूर्ण चिन्तन। रॉबर्ट एच० शुलर ने इसे परिभाषित करते हुए कहा है— कि यह विचारों का प्रबन्धन है। यह हर विचार में खोजता है कि उसमें क्या संभावनाएँ हैं? जेम्स ऐलन के अनुसार, “मनुष्य अपनी परिस्थितियों को प्रत्यक्षतः नहीं चुन सकता, लेकिन वह अपने विचारों को चुन सकता है और इस तरह परोक्ष रूप से किन्तु लाजिमी तौर पर अपनी

परिस्थितियों का निर्माण कर सकता है।”

विचारों को चुनने के लिए हमें निर्णय लेना होगा अर्थात् क्या हम सफल होना चाहते हैं या संकट के सामने हार मानना चाहते हैं। सफल लोग न सिर्फ सफल होने का चुनाव करते हैं, बल्कि उस दिशा में आवश्यक कदम भी उठाते हैं। अब्राहम लिंकन ने एक अत्यन्त निर्धन परिवार के होते हुए भी यह सपना देखा कि एक दिन वे अमेरिका के राष्ट्रपति बनेंगे और बारह बार असफल होने के बाद वे अमेरिका के राष्ट्रपति बने।

कठिनाइयों को सफलता में परिवर्तित करने के लिए अगला आवश्यक तत्त्व है कर्म। इसके लिए क्षमताओं का विकास और संसाधनों का उचित प्रबन्धन आवश्यक है। जेनिस क्राउस्कोप के अनुसार, “महत्वाकांक्षा के बिना कोई कुछ भी शुरू नहीं कर पाता है और कड़ी मेहनत के बिना कोई कुछ भी पूरा नहीं कर पाता है।”

वर्तमान में कर्मठता के साथ-साथ, कठिनाइयों का सामना करने के लिए दूरदर्शिता की शक्ति अत्यन्त आवश्यक है। दूरदर्शिता भविष्य दर्शन की वह क्षमता है जिसके द्वारा हम भविष्य के लक्ष्यों का निर्धारण कर उसे प्राप्त करने का आत्मबल एवं विश्वास प्राप्त करते हैं। दूरदर्शिता हमें विपत्तियों के समय सशक्त बनाती है। दूरदर्शी व्यक्ति हमेशा अपने अतीत के अनुभवों से सीखता है तथा अपनी अन्तरात्मा की आवाज की कभी अनसुनी नहीं करता है।

कठिनाई के समय हम अक्सर क्रोधित हो जाते हैं परन्तु यदि हम क्रोध से उत्पन्न ऊर्जा को नियन्त्रित कर उसे एक सशक्त प्रेरक औजार के रूप में प्रयोग करें, तो वह एक सकारात्मक, प्रेरणादायी शक्ति में परिवर्तित हो सकता है। कठिनाइयों के वक्त ईश्वर पर आस्था रखना जरूरी है। यह हमें आशा और शक्ति प्रदान करता है, जिससे हमारा व्यक्तित्व सकारात्मक होगा और हम सकारात्मक रूप से समस्याओं का सामना कर सकेंगे।

बढ़ेंगे। हम जागने के बाद दिन की शुरुआत किसी सकारात्मक और प्रेरणादायी उक्ति या प्रार्थना से कर सकते हैं।

अतः निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि यदि कठिनाई के समक्ष हम हार जाएँ या असफल हो जाएँ या गिर जाएँ या गिरा दिये जाएँ, पर तब भी हमें हार नहीं मानना है, दोबारा खड़े होना है, फिर कोशिश करनी है। एक बच्चा भी बार-बार गिर कर ही चलना सीखता है क्योंकि यह उसके बड़े होने का हिस्सा है। शिवमंगल सिंह 'सुमन' जी के शब्दों में,

“जब कठिन कर्म पगडण्डी पर

राही का मन उन्मुख होगा

जब सब सपने मिट जाएँगे

कर्तव्य मार्ग सन्मुख होगा

तब अपनी प्रथम विफलता में

पथ भूल न जाना पथिक कहीं।” •

पृष्ठ 41 का शेष भाग

वह सभी भारतीय संस्कृति की नवीन रूप में नवीन परिस्थिति के अनुकूल एक नवीन प्रस्तुति ही थी। हम अध्यात्मवाद से परिचित थे और भौतिकवाद से भी। व्यक्ति स्वतन्त्रता को मान देने वाले पूँजीवाद और समाज की सत्ता को महत्त्व देने वाले समाजवाद का भी परिचय हमें प्राप्त था। दोनों हमें पक्ष-प्रतिपक्ष के रूप में सामने खड़े दिखते थे। परन्तु गांधी जी ने द्वन्द्वात्मक जगत में अखण्ड ऐक्य के व्यवहार की विधि बताई। गाँधी जी इसके बीच समग्र और अखण्ड मानव के रूप में आविर्भूत हुए। उनसे जगत ने देखा, और आगे भी देखेगा कि जीवन पक्ष-प्रतिपक्ष का संघर्ष नहीं है। अगर तटों में दो-पन दिखता है तो जीवन की धारा वही है जो दोनों को छूती और मिलाती हुई बहती है। व्यक्ति और समाज दो नहीं एक हैं। दूसरे शब्दों में समाज व्यक्ति का ही विस्तार है। समन्वयात्मक भारतीय संस्कृति का मूल भी यही है। •

अनंत की ओर

प्रत्येक वस्तु चाहे वह सजीव हो या निर्जीव उन्हें चलना ही है। उन्हें विश्वब्रह्माण्ड की चक्रनाभि से चलना है और फिर वहीं पहुँचना है। इस यात्रा में प्रत्येक मनुष्य को यह स्मरण रखना है कि उसे बाह्य जगत, भौतिक परिवेश और अन्तर्जगत, अन्तःप्रेरणा के बीच सन्तुलन बनाते हुए चलना है। उसे यह बात क्षण भर के लिए भी भूलनी नहीं है कि उसे चलना है—चरैवेति। स्थिर रहने के लिए कोई आया नहीं है और न आयेगा। चलना ही उसका कर्तव्य है। जो चलना नहीं चाहते अथवा जो यथास्थिति रखना चाहते हैं, उन्हें यह जानना चाहिए कि स्थित अवस्था नाम की कोई चीज इस ब्रह्माण्ड में नहीं है। कोई भी व्यक्ति स्थित अवस्था स्थापित नहीं रख सकता। अतः यदि चलना ही है, रुकना जब नहीं है, पुरानी स्थिति में परिवर्तन होना ही है, तो ऐसा परिवर्तन लाना चाहिए जो क्रमशः उन्नीत हो, अधोगति नहीं हो, गति अवरुद्ध नहीं हो। जो यह लक्ष्य रखते हैं, वही दुनिया में कुछ ठोस काम कर सकते हैं, कर सकेंगे। शेष लोग दुनिया के बोझ बनकर रह जायेंगे।

जो मनुष्य आलस्यवश कोई काम नहीं करते उनका कोई मूल्य नहीं है, उनका कोई अस्तित्व—मूल्य नहीं, एक फूटी कौड़ी की भी कीमत नहीं है और जो चलता है, चलने से श्रम सीकर (पसीना) उसके ललाट पर चमकता है, वही व्यक्ति परम सौन्दर्यवान है और उसकी सुन्दरता देवताओं की भी श्लाघा (ईर्ष्या) का आधार बन जाती है—वे भी उन्हें धन्य कहते हैं। यदि गति उन्नीत नहीं होगी तो वह अवनति की ओर जायेगी, वहाँ दुर्गति होगी। जो मनुष्य सोता है, उसका भाग्य भी सो जाता है। जो जाग जाते हैं, उनका भाग्य भी जाग जाता है। जो उठकर खड़े हो जाते हैं, उनका भाग्य भी उठकर खड़ा हो जाता है। मनुष्य जब तक सोया रहता है, उसके जीवन में कलिकाल है। कलिकाल और कुछ नहीं है—जड़ मनुष्यों का, निकम्मे मनुष्यों का जीवन ही कलिकाल है, जग गये तो उनके जीवन में द्वापर, उठ गये तो त्रेता और जब चलने लगे तो सत्ययुग।

—श्री आनन्दमूर्ति

कागज के प्रमाण-पत्र का बढ़ता सामाजिक मूल्य : कितना सार्थक

राजेन्द्र कुमार

मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रति वर्ष प्रायः 4-5 कार्यशालाओं का आयोजन करता है। मैं पिछले तीन वर्षों से इन कार्यशालाओं के व्यवस्था-कार्य से जुड़ा हुआ हूँ। इस प्रक्रिया में मुझे अनेक छात्र-छात्राओं, शिक्षकों आदि से बातचीत करने का अवसर मिलता रहता है। प्रायः सभी व्यक्ति जो इस केन्द्र के कार्यक्रम के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने आते हैं, इस प्रकार के प्रश्न अवश्य पूछते हैं। क्या इस कार्यशाला में भाग लेने का प्रमाण-पत्र मिलेगा? क्या कार्यशाला में प्रतिदिन उपस्थित होना अनिवार्य है? क्या 75% उपस्थिति न होने से प्रमाण-पत्र नहीं मिलेगा? इसके प्रमाण-पत्र से हमें कहाँ-कहाँ लाभ मिल सकता है? इन सभी प्रश्नों के पीछे का भाव यह होता है कि कैसे कम से कम समय और श्रम लगाकर कार्यशाला में भागीदारी का प्रमाण-पत्र प्राप्त किया जा सके। कम ही लोग ऐसे होते हैं जिनके प्रश्नों से लगता है कि उनके अन्दर इन कार्यशालाओं से कुछ जानने, समझने व सीखने का भाव है। प्रायः यही भाव अन्य भौक्षणिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश लेने वाले विद्यार्थियों में भी देखा जाता है। लगता है, हम सभी का मूल उद्देश्य किसी भी प्रकार से प्रमाण-पत्र प्राप्त करना ही रह गया है, या ऐसे कहें कि हम सभी प्रमाण-पत्र एकत्रीकरण के अभियान में जुटे हुए हैं। प्रमाण-पत्र प्राप्त करने के ऐसे प्रयास सिर्फ इन कार्यशालाओं में या अन्य भौक्षणिक पाठ्यक्रमों में ही नहीं बल्कि कई अन्य क्षेत्रों में भी किये जाते हैं। जैसे- फर्जी जाति प्रमाण-पत्र, निवास प्रमाण-पत्र, गरीबी रेखा के नीचे जीवन यापन करने का प्रमाण-पत्र, बिना प्रयास व परिश्रम के नकल व अन्य माध्यमों से हाईस्कूल, इंटरमीडिएट व इससे

ऊपर की परीक्षाओं का प्रमाण-पत्र व अंकपत्र प्राप्त करना, आदि।

यह लेख लिखे जाने के कुछ समय पहले ही माध्यमिक शिक्षा परिषद, उत्तर प्रदेश बोर्ड की परीक्षाएँ प्रारम्भ हुई थी। इस वर्ष स्वकेन्द्र परीक्षा प्रणाली की व्यवस्था बदल दी गयी थी। इसके कारण परीक्षा के प्रथम दिन ही काफी संख्या में परीक्षार्थी परीक्षा में सम्मिलित नहीं हुए। इससे प्रतीत होता है कि कितनी बड़ी संख्या में परीक्षार्थी पूरी तरह से नकल व्यवस्था पर निर्भर थे। जब परीक्षाएँ आरम्भ होती हैं तो इन परीक्षार्थियों के अभिभावकगण केन्द्र के आस-पास सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से पहुँच जाते हैं। बड़ा ही दुःख होता है, जब ऐसी सूचना सुनने को मिलती है कि नकल कराते हुए शिक्षक पकड़ा गया, या केन्द्र व्यवस्थापक को निलम्बित किया गया। नकल न होने देने के कारण किसी पर्यवेक्षक की हत्या कर दी गयी, या बोर्ड की परीक्षाओं में शिक्षा माफियाओं का वर्चस्व, आदि। ये सारी सूचनाएँ स्पष्ट करती हैं कि फर्जी प्रमाण-पत्र को प्राप्त करने में समाज का एक बड़ा वर्ग भागिल है। किसी भी प्रकार से प्रमाण-पत्र प्राप्त करना एक सामाजिक मान्यता बनती जा रही है। बहुत से लोग अपने इन अनुचित व अनैतिक कार्य-कलापों की खुले रूप से चर्चा करते हुए भी पाये जाते हैं। मानो यह सामाजिक व व्यक्तिगत प्रतिष्ठा का सूचक हो।

जो विद्यार्थी इस प्रकार से प्रमाण-पत्र प्राप्त करते हैं, उन्हें बाद में कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। आज प्रायः सभी विश्वविद्यालय व स्वशासित महाविद्यालय अपने यहाँ प्रवेश परीक्षाओं का आयोजन करते हैं। अतः अयोग्य विद्यार्थी इन

उच्च शिक्षण संस्थाओं में दाखिला नहीं ले पाते हैं। यदि किसी प्रकार से वे दाखिला पा भी जाते हैं तो विषय की आधारभूत जानकारी के अभाव में उन्हें अनेक प्रकार की कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। कक्षा में पढ़ाई जा रही बातें उन्हें समझ में नहीं आती। वे कक्षा में पिछड़ते जाते हैं और उनके अन्दर एक प्रकार की कुण्ठा व मानसिक द्वन्द्व शुरू हो जाते हैं। समाज में भी उनकी स्थिति विचित्र होती है। वे अपने आप को अनपढ़ वर्ग में भी शामिल नहीं कर पाते हैं, क्योंकि उनके पास पढ़े-लिखे होने का प्रमाण-पत्र है, और न ही पढ़े-लिखे वर्ग में, क्योंकि उनके पास उस प्रमाण-पत्र के अनुरूप ज्ञान व व्यक्तित्व का अभाव होता है। पिछले कुछ दशकों में ऐसे पढ़े लिखे पर अकुशल और अयोग्य लोगों की एक बड़ी जमात देश में खड़ी हो गयी है। इस दुःखद स्थिति से सबसे अधिक नुकसान देश और समाज का हो रहा है। एक ओर तो आर्थिक, सामाजिक और अन्य विकास कार्यों हेतु योग्य व्यक्ति नहीं मिल पा रहे हैं, दूसरी ओर बेरोजगारों की संख्या में लगातार वृद्धि हो रही है। सिफारिश और वोट-बैंक की राजनीति के चलते अयोग्य लोगों की भी कई सरकारी संस्थाओं में भरती हो रही है, जैसे- सरकारी शिक्षण संस्थायें, सरकारी चिकित्सालय, ग्रामीण सामुदायिक केन्द्र आदि। अकुशल तथा मूल्यहीन व्यक्तियों के बाहुल्य के कारण ये संस्थाएं अक्षम हो रही हैं और अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में नाकामयाब। सरकारी संस्थाओं की असफलता और उन पर जन साधारण के घटते विश्वास का एक प्रमुख कारण यह भी है। इसी कारण सरकार के अधिकाधिक काम, गैर सरकारी और निजी क्षेत्र की संस्थाएं करने लगी हैं। ये संस्थाएं कुशल लोगों को ही भर्ती करती हैं, खोखले प्रमाण-पत्र धारकों को नहीं। पर इनका दृष्टिकोण पूर्णतया व्यावसायिक होता है। इनका मूल उद्देश्य अधिक से अधिक धनोपार्जन करना होता है, व्यक्ति व समाज

का कल्याण करना नहीं। इनकी कार्यप्रणाली में कर्मचारियों व उपभोक्ताओं के प्रति मानवीय दृष्टिकोण का अभाव दिखता है। जिससे संस्था के कर्मचारियों के व्यक्तिगत जीवन पर, और उनके शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य पर भी बुरा असर पड़ता हुआ देखा जा रहा है।

कई बार ऐसा भी होता है कि इन फर्जी प्रमाण-पत्रों के कारण लोगों को किसी साक्षात्कार अथवा सभा में शामिल होना पड़ता है। फिर भी इस प्रकार के प्रमाण-पत्र एकत्रीकरण से लोग पीछे नहीं हट रहे हैं। प्रायः हम सभी जब कोई दूसरा ऐसा करता है तो थोड़ा या ज्यादा असहमति तो व्यक्त कर देते हैं परन्तु जब यह फर्जी प्रक्रिया अपने लिए या अपने किसी स्वजन के लिए होती है तो हम प्रायः चुपचाप सहयोग करते हुए मूक समर्थन देते हैं। धीरे-धीरे येन केन प्रकारेण डिग्रियाँ और प्रमाण पत्रों का संग्रह करना हमारी सामुदायिक सोच का अंग बनता जा रहा है। छात्र-छात्रों से लेकर अभिभावक व शिक्षकगण, व्यवस्था से जुड़े अधिकारीगण, राजनैतिक नेता व पार्टियाँ सभी इसे परोक्ष या अपरोक्ष रूप से सहायता दे रहे हैं।

यदि समय रहते हम इस विकृत मानसिकता से नहीं उबरते तो परिणाम घातक होंगे। कागज पर तो हमारी साक्षरता और पढ़े लिखे लोगों की संख्या का ग्राफ काफी ऊँचा दिखेगा पर ऐसे लोग किसी काम के नहीं होंगे। बाहर से वे भले ही अपनी डिग्रियों का रौब दिखाएं पर अन्दर ही अन्दर वे हीनभावना से ग्रसित, तथा आत्मविश्वास व आत्मबल की कमी का शिकार हो जाएंगे। हमें शिक्षा के माध्यम से इन सभी भटकते हुए लोगों को बताना होगा कि स्वप्रयास व परिश्रम से प्राप्त की गयी सफलता के आनन्द की अनुभूति किसी भी प्रकार से प्राप्त किए गये कागज के प्रमाण-पत्रों से नहीं की जा

शेष भाग पृष्ठ 58 पर

इंटरनेट का माउस

डॉ० मधु धवन

सोफे पर पसरा वैभव फुर्ती से उठा और जैकेट पहनने लगा। कक्ष में कम्प्यूटर के सामने बैठा संस्कार कनखियों से देख रहा था। कम्प्यूटर छोड़ वह वैभव के सामने आ खड़ा हुआ।

‘आप कहीं जा रहे हैं?’

‘हाँ, क्यों....? कोई काम है....?’ जैकेट के बटन बन्द करते हुए वैभव ने कहा।

‘भइया, मेरे मन में एक सवाल उठता रहता है। मैं आपसे पूछना चाहता हूँ, यदि आपके पास समय हो तो....?’

‘हाँ, हाँ, छोटे....तेरे हर सवाल का जवाब देने के लिए मेरे पास समय ही समय है....’ वैभव ने बाल सँवारते हुए उत्तर दिया।

‘सवाल यह है कि जब नई तकनीक से सारी दुनिया मुड़ी में आ गई है, सारी व्यवस्था एलपीजी हो गई है तो ऐसी स्थिति में मानव-जीवन कैसा होना चाहिए?’

अपने अनुज संस्कार का प्रश्न सुन वैभव के हाथ रुके। उसने दर्पण से ही अनुज संस्कार की ओर देखा।

उसे लगा यह अनुज संस्कार नहीं अपितु संस्कार का दूरदर्शी ज्ञान बोल रहा है। अपने छोटे भाई को कंधे से पकड़कर वैभव ने कहा—

‘मेरे प्रिय अनुज! यह सत्य है कि मैं आयु में तुमसे बड़ा हूँ किन्तु तीन कारणों से मैं तुम्हें ही अपना ज्येष्ठ मानता हूँ पहला तुम धैर्यपूर्वक मेरी बात सुनते हो, तुममें धैर्य है। दूसरा बड़ी श्रद्धा-प्रेम से मेरा ही नहीं सबका काम करते हो, तुममें श्रद्धा-भाव कमाल का है और तीसरा जीवन दर्शन का अच्छा ज्ञान रखते हो। इतना कह वैभव संस्कार को स्नेहमयी दृष्टि से देखते हुए मुस्कुराने लगा। एकाएक उसे ख्याल आया

कि प्रश्न में कुछ एलपीजी शब्द भी था। अरे हाँ, यह एलपीजी क्या है.....?

‘एलपीजी.....एल—लिबरलाइजेशन यानि उदारीकरण, पी—प्राइवेटाइजेशन यानि निजीकरण और जी—ग्लोबलाइजेशन यानी भूमंडलीकरण या वैश्वीकरण। हँसते हुए संस्कार ने बताया।

‘वाह! मान गए तुम्हारा ज्ञान।’

‘यह तो आपका प्यार और बड़प्पन है भइया, भला बड़े भाई के ज्ञान के सामने छोटा भाई ज्ञानी हो सकता है?’ इतना कह संस्कार हँसने लगा। वैभव भी ठठा कर हँस पड़ा।

‘तुम देख ही रहे हो मेरे हाथ में सारे दिन सेल होता है और तुम्हारे हाथ कम्प्यूटर का माउस।

पहले युवकों के हाथ धनुष-बाण होते थे जिससे वह लक्ष्य-वेध करना अपना लक्ष्य मानते थे। मेरे हाथ में सेल है और अपना मनोरंजन मेरा लक्ष्य है।’

भइया लक्ष्य-वेध तो मानव जीवन का मुख्य कार्य है।

‘यह क्या कह रहे हो तुम? तुम्हारी परिभाषा ने तो मुझे महान व्यक्ति बना दिया।’

‘लक्ष्य-वेध अवश्य ही मानव को महान बनाता है, मानव को सफलता के शिखर पर ला खड़ा करता है। आज स्पर्धा एवं तकनीकी युग में इसका महत्त्व कई गुना ज्यादा बढ़ गया है।’ माँ का स्वर सुन दोनों चौंक उठे।

‘माँ, आप यहाँ.....? वैभव ने पूछा।

‘हाँ, सेल चार्ज के लिए रखने आई हूँ। तुम दोनों की बातें सुनकर मन प्रसन्न हो गया है। आपका जीवन-निर्माण के साधन भिन्न हैं किन्तु साधन ही है। आज धनुष-बाण का लक्ष्य-वेध होता है।’

जीवन का लक्ष्य निश्चित कर उस ओर क्रियाशील हो जाएं तो लक्ष्य की प्राप्ति हो जाती है', माँ ने हँसते हुए समझाया।

माँ गुणवती सेल चार्जर पर रख चली गई थी। दोनों भाई फिर से बातों में लग गए। वैभव और संस्कार सगे भाई थे। वैभव बड़ा था और संस्कार चार साल छोटा। दोनों शहर के जाने-माने उद्योगपति रत्नसिंह के साहबजादे राजकुमारों से कम न थे। उन दोनों की परवरिश नैतिकता के वातावरण में हुई थी। उन दोनों में सदगुणों की कमी न थी। न्यायी भी दोनों ऐसे कि दूध का दूध और पानी का पानी करने वाले। न्याय करते समय किसी में भेदभाव न करते। वे स्वयं खूब मन लगाकर पढ़ते थे। अपने जरूरतमंद मित्रों की मदद करते थे और अपने मधुर व्यवहार के चलते दोनों अतीव लोकप्रिय थे।

रत्नसिंह अपने दोनों पुत्ररत्नों को बेहद प्यार करते थे। वे चाहते थे कि दोनों अपने सुयोग्य संस्कारों से श्रेष्ठ जीवन का निर्माण करें। उन्होंने अपने आदर्शमय जीवन के साथ घर और बाहर बड़ा सुन्दर वातावरण बना रखा था। वैभव और संस्कार का जीवन इसी नैतिकता में पल्लवित हो रहा था।

यौवन की देहरी पर पाँव रखते-रखते साइबर युग का बोलबाला छा गया। ई-मेल, इन्टरनेट तथा सेल का प्रचलन बढ़ने लगा। देखते-देखते दोनों के व्यवहार-आचरण में कुछ अन्तर आने लगा। वैभव की शिक्षा पूर्ण होने वाली थी कुछ माह उपरान्त वह उद्योगपति के उद्योग का एक खंड संभालने वाला था। इस दृष्टि से पाँच-छह चतुर सहपाठी वैभव से सम्पर्क बढ़ाने लगे और उसे भोग के मार्ग पर आगे बढ़ाने की चेष्टा करने लगे। उसमें उनका स्वार्थ था। वे सोचते थे कि दो माह उपरान्त शिक्षा समाप्त हो जाएगी किन्तु नौकरी कहाँ मिलेगी इसलिए यदि वैभव का पूरा विश्वास जीत लेंगे तो उन्हें पद-प्रतिष्ठा मिल जाएगी। भोला-भाला वैभव इन सबसे अनभिज्ञ अपने

ही ख्यालों में डूबा रहता। मित्र जो भी कहते करता। एक तो वह लोकनीति में निपुण न था, दूसरा यौवन का मस्ती भरा समय था। सहपाठियों की भोग-प्रधान बातें-डिस्को जाना, रेस्तरां में खाना, पंचसितारा होटल में होनेवाले कार्यक्रमों में जाना अच्छा लगने लगा। धन की कोई कमी न थी। घंटों इन्टरनेट पर किसी न किसी से बातें करता रहता। कितनी आश्चर्यजनक बात थी उन दोनों के हाथ धनुष-बाण नहीं, इन्टरनेट का माउस था। किन्तु एक के कम्प्यूटर का माउस यानी चूहा गणपति का वाहन बन उसे सम्पूर्ण विश्व का भ्रमण करवाता हुआ सिद्धियाँ दे रहा था। दूसरे के हाथ का माउस यानी चूहा उसे चैट रिलेशन में भटकाता हुआ आम चूहे की भाँति जगह-जगह कुतरता हुआ भटका रहा था। उद्देश्यहीन जीवन की ओर ले जा रहा था।

संस्कार संस्कारों से परिपूर्ण माउस के सहारे ज्ञानवर्द्धन करने लगा। पिता की आकांक्षानुरूप विशेष रूप से फ़ैलने लगा। किशोरावस्था में ही उसकी दृष्टि स्पष्ट, वाणी मधुर और आचरण विशुद्ध था। यह इसलिए क्योंकि उसने अपने जीवन का लक्ष्य सुनिश्चित कर लिया था। वह स्वस्थ-स्वाधीन -सुन्दर तथा तकनीकी विशेषज्ञ बनकर भारत में बहुराष्ट्रीय यानी मल्टी नेशनल कंपनियों की सुचारु संरचना करना चाहता था। अपने लक्ष्य के अनुरूप उसने अपनी संयमित तथा संतुलित गतिशीलता भी बना ली थी। इसके बावजूद दोनों भाइयों में अपार स्नेह था। वैभव की आत्मीयता भले उतनी गहरी न थी। किन्तु संस्कार का प्रेम अभिन्न रूप से अपने बड़े भाई के प्रति था। वह अपने बड़े भाई के साथ समय-समय पर कई विषयों पर चर्चा भी करता।

'मैं झील किनारे सैर करने जा रहा हूँ, यदि तू भी चलना चाहे तो चल।' वैभव ने कहा।

'चलो.....' कहता हुआ संस्कार वैभव के साथ हो लिया। आज दोनों भाई शहर की झील के

किनारे भ्रमण पर निकले। झील के किनारे हरी-भरी घास पर बैठे। झील के हीरक जल कणों तथा लता गुल्मों को निहारते हुए बातों में डूब गए। साथ-ही-साथ बसन्त ऋतु की मनमोहक सुनहरी धूप का आनन्द लेने लगे। झील की नील जलराशि को स्पर्श करती शीतल मन्द सुगन्ध वायु दोनों के मन-मस्तिष्क में पुलक भर रही थी। चारों ओर बिछी गुलाब की क्यारियों में लगे गुलाब आँखों को मोहित कर रहे थे। आसपास लगे सुन्दर सघन वृक्ष उन पर चढ़ी लदी हरी-भरी लवंग लताएँ जिन पर सैंकड़ों की तादाद में लाल-पीले सफेद और बैंगनी फूल लगे थे, दर्शकों पर सम्मोहन चला रही थीं। झील की अगाध जलराशि पर पड़ती सूर्य की कोमल किरणें इस प्रकार झिलमिला रही थीं मानो प्रकृति के नीले आँचल पर सुनहरे धागों का जाल बुना हो। प्रकृति के मनमोहक रूप को निहारते दोनों बातचीत में डूबे हुए थे। संस्कार ने उचित अनुकूल अवसर पाकर जीवन-निर्माण की चर्चा छोड़ दी, जिससे गुमराह होते बड़े भाई की आँखें खुलें। वैभव ने छोटा कंकड़ उठाकर सामने लगे फूल पर निशाना साधा। कंकड़ ठीक निशाने पर लगा। संस्कार प्रसन्न हो उठा।

‘भइया ! आपकी विशेषता यह है कि आपका निशाना सदा अचूक होता है। आप अपने जीवन का श्रेष्ठ लक्ष्य निर्धारित कर उस दिशा में अचूक निशाना क्यों नहीं लगाते? यह अन्दरूनी लक्ष्य-वेध आपको पिताजी की भाँति योग्य उद्योगपति बना देगा।’

‘तुमने ठीक कहा। अब समय आ गया है कि मैं अपने जीवन का श्रेष्ठ लक्ष्य संधान करूँ और अपना जीवन स्वस्थ-स्वाधीन-सुन्दर तथा नवीनतम तकनीक से युक्त करूँ तभी हम मल्टीनेशनल कंपनियाँ खोलकर अच्छे उद्योगपति बन सकते हैं। यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है कि ऐसा जीवन का लक्ष्य हो जिसमें हम पूरे विश्व को नौकरियाँ दें। अपने भारत की बेरोजगारी

खत्म कर दें।

‘वाह, यह लक्ष्य मेरा होना चाहिए’।

दोनों का शरीर अज्ञात प्रसन्नता से पुलकित हो उठा। मानो अपने देश की बेरोजगारी की समस्या का समूल अन्त कर दिया हो और चारों ओर स्वर्गीय परिवेश छा गया हो। शीतल मन्द समीर उनके प्रसन्न हृदयों को छू प्रसन्न होने लगी। थोड़ी देर दोनों आने-जाने वालों को देखते रहे फिर स्वर को गंभीर बनाते हुए संस्कार ने कहा—

‘यह लक्ष्य-वेध तो बाद की बात है भइया, पहले सुन्दरता कहाँ मिलती है, सुन्दरता तो अंतिम उपलब्धि होती है। सबसे पहले हमें स्वस्थ होना पड़ता है।’

‘मैं स्वस्थ हूँ। वैभव ने हरी घास पर पसरते हुए कहा—

‘भइया, “स्वस्थ” का बाहरी अर्थ शरीर की निरोगता ही समझा जाता है। लेकिन इसका अन्दरूनी अर्थ अत्यन्त गूढ़ है। स्वस्थ शब्द में ‘स्व’ का अर्थ है स्वयं यानी अपनी आत्मा और उसमें स्थित हो जाना स्वस्थ कहलाता है।’

‘छोटे.....तू बड़ी-बड़ी बातें करने लग गया है, पहले यह बता ‘स्व’ में स्थित कैसे होते हैं?’

‘भइया, ‘स्व’ में स्थित तभी हो सकते हैं जब ‘पर’ से विमुख हो जाएँ। आत्मा ‘स्व’ है और सम्पूर्ण विश्व ‘पर’ से मोह हटा लें तभी ‘स्व’ में स्थित हो सकते हैं। यही समता है। ममत्व हटकर स्व-पर का भेद समाप्त हो जाए और संसार के समस्त प्राणी आत्मवत् बन जाएँ। ऐसी स्वस्थ आत्मा ही स्वाधीन बन सकती है—अपने ही अधीन बाहर के सुखों के अधीन नहीं। बाहरी इच्छाओं से आकर्षित होकर इन्द्रियाँ और मन आत्मा को अपने काबू में न कर सकें, बल्कि आत्मा उन्हें अपने नियंत्रण में रखकर संयमित बना ले। यदि ऐसी नियंत्रण शक्ति मिल जाती है तो आत्मस्वरूप सुन्दर बन जाता है। ऐसी सुन्दरता हमारे

जीवन का लक्ष्य बनना चाहिए।'

वैभव एकटक संस्कार को निहारता रहा। मन्द-मन्द बह रहे शीतल सुगंधित पवन वेग को जैसे अपने रोम-रोम में पूरी तरह भरते हुए कहा-‘तुम तो महाज्ञानी हो गए हो। अभी तो जवानी में कदम रखा ही है और तुम आत्मा की सुन्दरता की बातें करते हो। जहाँ लोग नवीनतम जीवन शैली ढूँढ़ते फिर रहे हैं।’

संस्कार ने बड़े भाई के भावों को भाँपते हुए अपने ढंग से कहा-‘भइया, मैं यह थोड़े ही कह रहा हूँ कि यौवन का आनन्द न उठाएँ या शरीर की सुन्दरता को न भोगें। आपने अभी-अभी यौवन में प्रवेश किया है। ऐसा न हो कि यौवन के मद में अंधे होकर हम भोगों के पीछे पागलों की भाँति भागने लगें, जैसे अब भाग रहे हैं और लक्ष्य से भटक जाएं। फिर हाथ में पकड़ा माउस रूपी धनुष-बाण लक्ष्य-वेध न कर सकेगा।’

घास पर बैठे वैभव का माथा ठनका। वह हँसता हुआ उठ कर खड़ा हो गया। चेहरे का रंग उड़ा-उड़ा-सा लगने लगा। ‘अनुज संस्कार तुम बिलकुल अपने नाम के अनुकूल हो। मुझे तो ऐसा लगता है कि संस्कार मानव रूप धर धरती पर उतर आया हो। मैं न तो तुम्हारे जैसा सोच सकता हूँ और न ही सोचता हूँ। बाहरी सौंदर्य दिखते ही मेरा धनुष-बाण यानी हाथ में पकड़ा सेल चुप्पी नहीं साध सकता। यौवन का उन्माद मुझे आ घेरता है।’

बड़े भइया का वाक्य सुनते ही संस्कार चौंक कर उठ खड़ा हुआ। यह जानने के लिए कि भइया से क्या गलती हो गई है। थोड़ी ही देर में उसे समझ में आ गया कि अनर्थ हो ही गया है। झील के किनारे थोड़ी दूर पर पाँच-छह अत्याधुनिक किशोरियाँ चहल-कदमी कर रहीं थीं। उसी समय भैया का सेल बजा और भइया हँस-हँसकर मीठी-मीठी बातें करने लगे।

लक्ष्यवेध की क्रिया-प्रतिक्रियाओं का अनूठा

क्रम चल पड़ा। भीतरी लक्ष्य-वेध की चर्चा करनेवाला संस्कार बड़े भइया को ऐसा देखने लगा मानो कोई अजूबा हो। वैभव बाहरी लक्ष्य-वेध कर रहा था जिसके कारण संस्कार ने चर्चा चलाई थी। वैभव विचारों की परिपक्वता से कोसों दूर तो नहीं किन्तु समीप भी न था, क्योंकि उसके सहपाठी उसे भरमाते रहते थे। संस्कार वैभव के निकट जाकर बोला-‘यह लक्ष्य तुम्हारा नहीं है।’ वैभव सेल पर मीठी चुहल में व्यस्त था। संस्कार ने भाई को पुनः कहा कि वैभव मुँह फेर भी ले तो परवाह नहीं, छोटा अपनी जान भी अर्पित करने के लिए तैयार है। फोन पर बातें समाप्त कर वैभव ने संस्कार को वहीं बैठने को कहा और स्वयं लड़कियों के बीच घिर कर मस्ती करने लगा। पास में खड़ा एक ग्यारह-बारह साल का लड़का उनकी ओर हसरत भरी निगाहों से देख रहा था। इतने में उसके पिता आइसक्रीम लिये वहाँ पहुँचे और एक घौंस जमाते हुए अपने पुत्र से बोले- शिव, क्या देख रहा है?

पिता का स्वर सुन लड़का घबरा गया। पिता ने कहा- ऐसा तुझे नहीं बनना है। ये लड़के या तो आवारा होते हैं या गरीब.....वह अमीरजादियों को फंसा कर शादी करना चाहते हैं।

‘क्यों पापा?’

पिता ने पुत्र की ओर देखा.....क्योंकि अमीर बन सकें। वैभव के कानों में मानो गर्मागर्म उबलता हुआ सीसा किसी ने डाल दिया हो। वह तिलमिला उठा।

‘पर, पापा दोस्त भी तो हो सकते हैं।’

‘अमीर लड़कों के पास इस तरह बर्बाद करने के लिए समय नहीं होता, क्योंकि उन्हें अपना व्यापर संभालना होता है।’

परती तरफ बैठा संस्कार भी सुन रहा था। वह खून का घूँट पी गया। निम्न मध्यवर्गीय उनकी

शेष भाग पृष्ठ 58 पर

विश्वास का संकट

डॉ० धर्मजंग

उपर्युक्त शीर्षक समकालीन समाज में विमर्श का एक अत्यन्त ज्वलन्त बिन्दु है। हम प्रायः अपने आस-पास के किसी व्यक्ति को यह कहते हुए सुनते हैं कि फलां व्यक्ति को उसके भाई या बिजनेस पार्टनर ने धोखा दिया या फिर पुत्र ने अपने पिता के विश्वास को ठेस पहुँचायी। इन आपसो रिश्तों से आगे बढ़कर समाज के स्तर पर देखें तो हम पायेंगे कि लोग प्रायः अपने पड़ोसी द्वारा, अपने जन प्रतिनिधि द्वारा या फिर किसी महत्त्वपूर्ण पद पर बैठे सरकारी कर्मचारी द्वारा भी छले जाते हैं। यह विश्वास का या विश्वसनीयता का संकट आज भारत के हर समाज में कम या अधिक रूप से व्याप्त है। यह संकट आज हमारे देश की प्रगति को भी कहीं न कहीं प्रभावित कर रहा है। जब विश्व के कुछ अन्य विकसित देशों की ओर दृष्टिपात्र करते हैं तो कहीं न कहीं यह पाते हैं कि उन देशों में आपसी विश्वास की समस्या अत्यल्प मात्रा में या लगभग न के बराबर है, यथा— स्वीडन, फिनलैण्ड, स्विट्जरलैण्ड, न्यूजीलैण्ड, कनाडा इत्यादि देश।

जब किसी विकसित, अल्पविकसित या मध्यम स्तरीय विकसित समाज को दृष्टिगत रखते हुए इस विश्वसनीयता के संकट के मूल में जाने का प्रयास करें तो हम पाते हैं कि जो समाज अत्यधिक विकसित है या जो अत्यन्त अल्पविकसित है, दोनों तरह के समाज में यह समस्या बहुत कम है जबकि एक मध्यम स्तर के प्रगतिशील समाज में यह समस्या अधिक व्याप्त है। इस सन्दर्भ में विचार करने पर हमें दो कारण परिलक्षित होते हैं— पहला महत्त्वपूर्ण कारण तो यह कि दोनों (विकसित और अल्पविकसित) समाजों में जीवन के लिए आपसी संघर्ष की स्थिति नहीं है और दूसरा कारण

दोनों समाजों में मानव महत्त्वाकांक्षा का स्वरूप एक मध्यम स्तरीय समाज की अपेक्षा भिन्न है। एक विकसित समाज में भौतिक चाहना की अपेक्षा, सुख-शान्ति, व्यवस्था और आपसी सौहार्द की आकांक्षा अधिक है। वहीं दूसरी ओर एक अल्पविकसित (आदिवासी) समाज में भी भौतिक संसाधन की अपेक्षा शान्तिपूर्ण स्वस्थ जीवन की, प्रकृति से समरसता की और साथ ही प्रकृति से अपने जीवन रक्षा की आकांक्षा अधिक है, जो उन्हें संघर्ष की अपेक्षा सहयोग और आपसी विश्वास के उन्नयन हेतु प्रयास की ओर प्रेरित करती है।

अब जब हम एक मध्यमस्तरीय विकासशील समाज की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो पाते हैं कि जहाँ एक ओर इस समाज का प्रकृति से बिलगाव हो चुका है, वहीं उसका उच्चस्तरीय भौतिक विकास भी पूर्णरूपेण (अन्य विकसित देशों के सापेक्ष में) नहीं हो पाया है। इस समाज में प्रकृति से समरसता का हास और भौतिक संसाधनों की आकांक्षा एक साथ पाई जाती है। ऐसी स्थिति में इस समाज के सभी सदस्यों में प्रायः अपने निजी हितों के लिए संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और यहीं से विश्वसनीयता के संकट की स्थिति उत्पन्न होती है।

परन्तु यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि जिस प्रकार अन्य समरस समाजों में आपसी विश्वास और भाईचारे की भावना है तो फिर हमारे समाज में ऐसा क्यों नहीं है? इसके कई कारण गिनाए जा सकते हैं। जैसे जनाधिक्य, जनसुविधाओं का अभाव, अन्य संस्कृतियों का प्रभाव, अतिभौतिकवादी आकांक्षा इत्यादि, और इन कारणों के कारण उत्पन्न आपसी संघर्ष की स्थिति।

यहाँ पर कुछ लोगों का ऐसा मत भी हो सकता है कि हमारे देश में ही ऐसा नहीं है। तुलनात्मक रूप से कुछ अन्य देशों (यथा—अमेरिका, मेक्सिको, ब्रिटेन आदि) के मुकाबले हमारे देश की जनसंख्या अधिक है, फिर भी हमारे देश के कारागारों में उनके यहाँ की अपेक्षा में कम कैदी हैं। हमारे देश की जनता अधिक सौहार्द से रहती है और विधि तथा व्यवस्था का आदर करती है। पर जब हम आपसी विश्वास के संकट की बात करते हैं तो हमें किसी अन्य की अपेक्षा उत्कृष्ट होने की बजाय आदर्श की ओर उन्मुख रहने और उसके अधिक करीब रहने का प्रयास करना चाहिए।

यह प्रत्येक समाज के चिन्तन का केन्द्र बिन्दु होना चाहिए कि किस प्रकार समाज के सभी सदस्यों के बीच आपसी सौहार्द, विश्वास और भाईचारे की भावना का विकास हो। यह समाज के समस्त विचारकों और नेतृत्वकर्ताओं का कर्त्तव्य है कि वे समाज को आदर्श की ओर उन्मुख करने का प्रयत्न करें। पर शायद आज हमारे समाज में ऐसे विचारकों, दार्शनिकों, नेतृत्वकर्ताओं की कमी हो गई है जो स्वयं के कथन एवं कर्म से समाज के सामने आदर्श प्रस्तुत कर सकें और एक मशाल की भाँति समाज का मार्ग दर्शन कर सकें। यद्यपि आज भी हम डॉ० ए०पी०जे० अब्दुल कलाम, मेधा पाटेकर, नानाजी देशमुख, अरुणा राय, अरविन्द केजरीवाल, जैसे कई छोट-बड़े मशाल रूपी व्यक्तित्व को देखते हैं, जो कहीं न कहीं अपने व्यक्तित्व से समाज के एक बड़े वर्ग को प्रभावित कर रहे हैं। पर शायद इनमें से भी कोई ऐसा नहीं है, जिसके बारे में हम यह पूर्ण विश्वास के साथ कह सकें कि “चल पड़े जिधर दो डग मग में, चल पड़े कोटि पग उसी ओर।” शायद यही पर व्यापक रूप से इस विश्वसनीयता की कमी की समस्या का स्पष्ट और खुला रूप भी हमारे सामने आता है

कि आज का युवा किस आदर्श पर पूर्ण विश्वास कर अपने समाज और अपने देश के उत्कर्ष के लिए स्वयं को समर्पित कर दे।

विश्वास या विश्वसनीयता को स्पष्ट करते हुए यहाँ दो विचारकों को उद्धृत करना प्रासंगिक होगा। प्रथमतः अंग्रेज विचारक सैमुअल स्माइल का कहना है कि “विश्वास से विश्वास का जन्म होता है।” द्वितीयतः प्रख्यात दार्शनिक अरस्तू का कहना है कि “किसी व्यक्ति का स्वभाव उसे विश्वसनीय बनाता है उसकी सम्पत्ति नहीं।” इन विचारों के आलोक में आगे बढ़कर यह भी कहा जा सकता है कि मन को स्वस्थ रखने में विश्वास आक्सीजन का काम करता है। विश्वास के फलस्वरूप ही दो व्यक्तियों के बीच मैत्री सम्बन्ध स्थापित होता है। बिना विश्वास किए मैत्री असंभव है। बिना विश्वास के न तो महापुरुषों या संतों से भेंट हो पाती है, न ही ईश्वर की आराधना हो पाती है। और विश्वआसनीयता तो उस धन की तरह है जिसे हम जब बैंक या अन्य किसी मान्य संस्था में जमा करके रखते हैं तो वह सुरक्षित रहता है और गाहे बगाहे उसमें से थोड़ा धन निकाल कर अपने प्रयोग में ले आते हैं। बाकी धन पराक्ष रूप से समाज के काम आता रहता है। पर हम यदि लालच या डर की भावना से जब पूरा धन निकाल कर अपने पास रख लेते हैं तो न तो उसमें वृद्धि ही होती है और न ही उसे हम चोर-डाकुओं से सुरक्षित रख पाते हैं। उसी प्रकार विश्वसनीयता का प्रसार हमें और समृद्ध बनाता है। इस विश्वास के लिए दो तत्त्व अनिवार्य हैं— विवेक और त्याग। विवेक और त्याग न तो अपने आप कभी पैदा हुए हैं, न होते हैं, न होंगे। ये गुण अलग-अलग कहीं मिलने वाले भी नहीं। विश्वास के बिना ऐसा पतन होता है कि फिर से उठ पाना दुष्कर हो जाता है। विश्वास के लिए अपने ऊपर संयम व दृढ़ता आवश्यक है।

यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि इस विश्वास की शुरुआत कहाँ से है ? मेरे विचार से स्वयं के अंतःकरण से, स्वयं की अन्तरात्मा की आवाज को पहचानने, उसे स्वीकार करने और फिर उस पर अमल करने से। यह आवाज कहीं न कहीं एक सार्वभौमिक सत्य का प्रगटन है, जिस पर चलने से एक साधारण सा वकील मोहनदास कर्मचन्द्र गाँधी—महात्मा गाँधी— बन जाता है। उन महात्मा गाँधी की एक आवाज पर लाखों—करोड़ों मानवों ने विश्वास किया, उन्हें स्वीकारा और उनके बताए मार्ग पर चल पड़े। विश्वसनीयता के संदर्भ में यह सम्पूर्ण विश्व का एक ऐसा अप्रतिम उदाहरण है जिसका कोई सानी नहीं है। यह किसी प्रकार के शासन या लोभ से अर्जित भाव नहीं है बल्कि प्रेम, त्याग, करुणा और अनुशासन से अर्जित वो भाव है जिसने करोड़ों भारतीयों के जीवन को नयी दिशा दी।

निष्कर्षतः ऐसे सफल और उच्च जीवन चरित्र से प्रेरणा लेकर यह कहा जा सकता है कि आज की संक्रमणकालीन परिस्थितियों में प्रेम, त्याग, करुणा, अनुशासन, वैयक्तिक पारदर्शिता वे शाश्वत जीवन मूल्य हैं, जिन्हें हम आज भी साधन की तरह प्रयोग करके सामाजिक समरसता और विश्वास बहाली के साध्य को प्राप्त कर सकते हैं, क्योंकि बिना विश्वास के संकट को दूर किए हुए और समाज में सद्भाव का संचार किए हुए हम अपने देश को विश्व के शीर्ष पर नहीं पहुँचा सकते हैं। अतः आज भारतवर्ष के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होना चाहिए कि उपर्युक्त शाश्वत जीवन मूल्यों का अपने जीवन में प्रयोग करते हुए भारतवर्ष को पुरातन वैश्विक गरिमा के उच्चशिखर पर पुनः स्थापित करने में अपना सक्रिय योगदान प्रदान करे। •

पृष्ठ 51 का शेष भाग

सकती। हमें समाज के प्रत्येक वर्ग विशेषकर छात्रों को यह विश्वास दिलाना होगा कि कोई भी वास्तविक व दीर्घकालिक उपलब्धि बिना पात्रता के नहीं हो सकती। यदि हमारे अन्दर समुचित पात्रता है तो हम जीवन में अवश्य सफल होंगे। फर्जी प्रमाण-पत्र के आधार पर कभी नहीं। इसलिए हमारा पूरा प्रयास स्वयं की पात्रता को विकसित करने का होना चाहिए। केवल प्रमाण-पत्र प्राप्त करने का नहीं। यदि हमने किसी कार्यक्रम से वास्तविक रूप में कुछ सीखा है, कुछ पात्रता प्राप्त की है तो इसके प्रमाण स्वरूप हमें प्रमाण-पत्र मिलना चाहिए। पर उस प्रमाण-पत्र की गरिमा को बचाये रखने के लिए हमें अपने अन्दर उसके अनुरूप ज्ञान व योग्यता को भी लगातार विकसित करते रहना चाहिए, तभी वह प्रमाण-पत्र स्वयं के लिए, संस्था के लिए तथा समाज व राष्ट्र के लिए उपयोगी हो सकता है। और धीरे-धीरे प्रयास यह करना चाहिए कि हमें अपनी योग्यता, कुशलता आदि के लिए प्रमाण-पत्र न दिखाना पड़े बल्कि हमारा सुविकसित व्यक्तित्व, हमारी कार्य-कुशलता और हमारा काम ही हमारा और हमारी संस्था का सबसे बड़ा प्रमाण-पत्र हो। •

पृष्ठ 55 का शेष भाग

ओर उँगली उठाएँ, आज तक लोगों ने पलकें बिछाई थीं। वैभव को ऐसा झटका लगा कि वह वहाँ और न बैठ सका। सबसे विदा ले उठ बैठा। संस्कार कार की ओर बढ़ता जा रहा था। उसकी आँखें ही नहीं दिल भी रो रहा था। वैभव लम्बे-लम्बे डग भरता संस्कार के पास पहुँच गया। संस्कार खड़ा हो गया। दोनों एक पल निहारते रहे फिर एक-दूसरे के गले लग गए। संध्याकालीन सूर्यास्त होते गगन की रक्ताभ किरणों से चमकते हुए उन दोनों के अश्रु बाह्य आकर्षणों के चलते आई मलिनता को धोने लगे और किरणें चेहरों को और प्रदीप्त करने लगीं मानो आंतरिक लक्ष्य-बेध एकाएक सार्थक हो गया हो। •

विजय

सुरेश कुमार 'अकेला'

शिवेश होटल के बाहर ज्यों ही मैं निकला और अपनी साइकिल का ताला खोलने के लिए सर को नीचे किया, मैंने देखा कि वहीं बगल में पीले रंग का महंगी क्वालिटी वाला एक बटुआ गिरा पड़ा है। मैंने झट से उस बटुए को उठाया और तुरन्त अपने बैग में रख लिया और साइकिल पर सवार होकर वहां से चल दिया। अभी मैंने बटुए को खोलकर देखा नहीं था, लेकिन वह जिस होटल के पास गिरा था और ऊपर से देखने में उसकी जो क्वालिटी थी, उससे तो मुझे यही लगा कि निश्चित रूप से बटुए में ज्यादा पैसे होंगे। मैं साइकिल चलाते चला जा रहा था लेकिन मेरे मन में लालच और ईमानदारी के बीच एक द्वन्द्व शुरू हो चुका था। प्रथमतया मेरे मन में विचार आया कि बटुए में जितने भी पैसे होंगे मैं उसे ले लूंगा। कौन जाता है लौटाने। लेकिन ठीक उसी समय यह विचार भी मन में कौंधने लगा कि मुझे बटुए को जिसका है उसे लौटा देना चाहिए। क्योंकि मैंने मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) से मूल्यों की शिक्षा ली है। यदि मैंने इस बटुए को नहीं लौटाया तो वह मूल्य हीनता होगी तथा मेरे मानवीय मूल्यों की शिक्षा का कोई अर्थ नहीं होगा। अतः मैंने बटुए को, चाहे उसमें जो कुछ भी हो, लौटाने का दृढ़ निश्चय कर लिया। मुझे पहले से ही यह विश्वास था कि बटुए में अवश्य ही कोई सम्पर्क नम्बर होगा जिससे मैं बटुए के स्वामी से सम्पर्क कर सकूंगा, और वैसा ही हुआ।

जब मैंने एकांत में जाकर बटुए को खोला तो पाया कि उसमें पैसे तो नहीं थे किन्तु 835 रुपये का वाराणसी से दिल्ली जाने के लिए उसी दिन का आरक्षित टिकट, ढेर सारे विजिटिंग कार्ड, अतुल

गर्ग नामक व्यक्ति का एक ग्रीनकार्ड और एक महिला की फोटो थी। मैं तुरन्त पास के पी0सी0ओ0 पर गया और विजिटिंग कार्ड में उद्धृत मोबाइल न0 को डायल किया। संयोग वस वह नम्बर अतुल गर्ग का ही था। मैंने उन्हें बटुए के बारे में बताया तथा बटुए को वापस करने के लिए उन्हें एक निश्चित स्थान पर बुलाया। वे उस समय स्टेशन गाड़ी पकड़ने जा रहे थे। कुछ ही समय बाद अतुल जी मेरे बताये गए निश्चित स्थान पर आकर मुझसे मिले और मैंने उन्हें उनका बटुआ सौंप दिया।

वे मेरी इस ईमानदारी पर बहुत प्रसन्न हुए तथा मुझे पांच सौ का एक नोट देने लगे। लेकिन मैंने पांच सौ की जगह उनसे सिर्फ 6 रुपये मांगे जो फोन करने में मेरे खर्च हुए थे। इससे वे और भी प्रसन्न हो गये। जब मैंने उनके ज्यादा दबाव डालने के बाद भी पांच सौ का नोट नहीं लिया तो अन्त में मुझे 6 रुपये दोनों हाथों से देते हुए, दिल्ली में कभी भी आने पर भेंट करने का मुझसे आग्रह किया तथा हर सम्भव सहायता देने का वादा किया।

अब वे स्टेशन की ओर चल दिये और मैं साइकिल पर सवार हो कर घर की ओर चल दिया। अब मेरे मन में इस बात की बहुत खुशी थी कि मैंने लालच और ईमानदारी के द्वन्द्व में विजय प्राप्त कर ली है। •

मनुष्य अल्पायु है और संसार की सब वस्तुएँ वृथा तथा क्षण भंगुर हैं, पर वे ही जीवित हैं, जो दूसरों के लिए जीते हैं, शेष सब तो जीवित की अपेक्षा मृत ही अधिक हैं।

● स्वामी विवेकानन्द

वार्षिक रपट : वर्ष 2007-08

मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र अपने उद्देश्यों की पूर्ति हेतु प्रतिवर्ष विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन करता है। सत्र 2007-08 (जुलाई से मार्च) तक आयोजित किए गये कार्यक्रमों का विवरण निम्न है-

1. विभिन्न वर्गों के लिए कार्यशालाओं का आयोजन
2. विशिष्ट व्याख्यानो एवं संगोष्ठियों का आयोजन
3. प्रकाशन

सत्र 2007-08 में आयोजित कार्यक्रमों की संक्षिप्त रपट

1. विभिन्न वर्गों के लिए कार्यशालाओं का आयोजन

अ) विश्वविद्यालय/महाविद्यालय के शिक्षकों के लिए पूर्णकालिक कार्यशाला

विषय : "अकादमिक उत्कृष्टता के लिए, जीवन मूल्य एवं मानवीय क्षमताओं का विकास"

अवधि : अगस्त 11 - 19, 2007 (8 दिन)



केन्द्र द्वारा विश्वविद्यालय/महाविद्यालय के शिक्षकों के लिए 11 अगस्त से 19 अगस्त, 2007 तक सिनेट हाल, स्वतंत्रता भवन में एक कार्यशाला का आयोजन किया गया। इस कार्यशाला में शिक्षा संकाय, संगीत एवं मंच कला संकाय, सामाजिक विज्ञान संकाय, संस्कृत विद्या धर्म-विज्ञान संकाय, आयुर्वेद संकाय, वाणिज्य संकाय तथा प्रौद्योगिकी संस्थान व विश्वविद्यालय से सम्बद्ध डी०ए०वी, एवं वसन्त कन्या महाविद्यालय राजघाट के कुल 36 प्रतिभागियों ने भाग लिया। भाग लेने वाले प्रतिभागियों में 6 रीडर, 3 प्रशासनिक अधिकारी तथा शेष प्रवक्ता स्तर के थे। इस कार्यशाला में कुल 32 सत्र हुए और प्रत्येक सत्र डेढ़ घण्टे का था। इस प्रकार कुल 48 घण्टे चर्चाएं हुईं। कार्यशाला अत्यधिक प्रभावशाली सिद्ध हुई। सभी प्रतिभागियों ने कार्यशाला में हुई चर्चाओं व अभ्यास कार्यों को लाभप्रद बताया। प्रतिभागियों के शब्दों में- "अकादमिक उत्कृष्टता के लिए, जीवन-मूल्य एवं मानवीय क्षमताओं का विकास" विषय पर आधारित कार्यशाला, निश्चित ही एक उत्कृष्ट मानव एवं उत्कृष्ट शिक्षक बनने में लाभदायक सिद्ध हुई। सामान्य

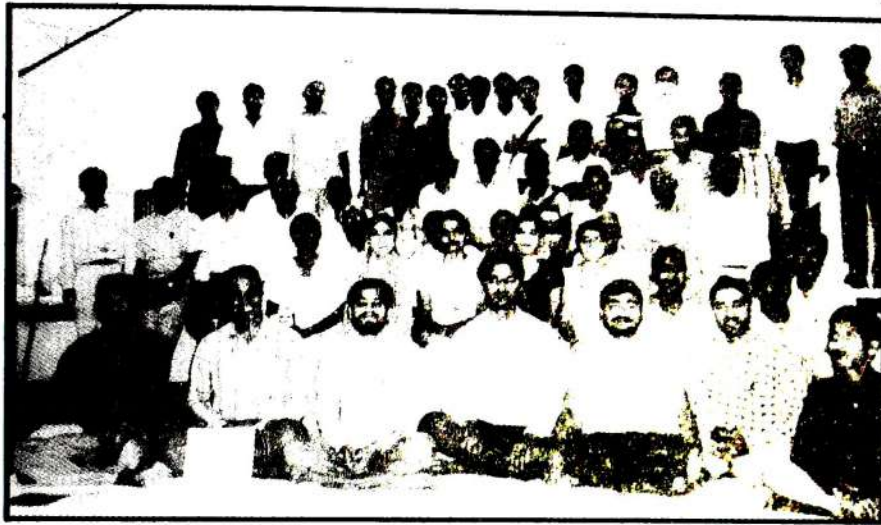
जीवन के मूल्य किस प्रकार अकादमिक उत्कृष्टता को विकसित करने में सहायक हैं, इसका व्यावहारिक ज्ञान हुआ। अतः कार्यशाला लाभप्रद है और इसका आयोजन निरंतर होते रहना चाहिए।” प्रतिभागियों का मानना था कि उत्कृष्टता के इन प्रयासों में शिक्षकों की सक्रिय एवं सकारात्मक भूमिका सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यदि समय-समय पर शिक्षकों एवं विश्वविद्यालय के प्रशासनिक अधिकारियों, कर्मचारियों के दृष्टिकोण एवं समझ के विकास हेतु इस तरह की कार्यशालायें नियमित रूप से आयोजित की जायें तो हमारा विश्वविद्यालय, महाविद्यालय एक उत्कृष्ट स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

प्रतिभागी शिक्षकों को इस कार्यशाला में भाग लेने हेतु शैक्षणिक एवं अन्य कार्यों से मुक्त रहने का विश्वविद्यालय प्रशासन द्वारा जो अवसर दिया गया, उसी के कारण यह कार्यशाला अपने उद्देश्य में सफल हो सकी। आर्थिक एवं अन्य सभी प्रकार के सहयोग के लिए प्रतिभागियों एवं आयोजकों की ओर से माननीय कुलपति जी एवं अन्य सम्बन्धित अधिकारियों का आभार प्रकट किया गया।

ब) विद्यार्थियों के लिए ग्यारहवीं वार्षिक कार्यशाला

विषय : “जीवन मूल्य एवं मानवीय क्षमताओं का विकास”

अवधि : सितंबर 25 से नवम्बर 7, 2007



प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में सफल होना चाहता है। सफलता के साथ-साथ वह सुखी भी होना चाहता है। व्यक्ति की चाहना उचित भी है। परन्तु सफल, सुखी और सार्थक जीवन के मूल आधार हैं—हमारी जीवन-दृष्टि अर्थात् जीवन को देखने-समझने का ढंग, हमारे जीवन मूल्य और हमारी मानवीय क्षमताएं। इन मूल्यों और क्षमताओं को व्यवस्थित रूप से जानने-समझने के लिए तथा इन्हें अपने भीतर विकसित करने के लिए हमारी सामान्य शिक्षा व्यवस्था में प्रायः कोई स्थान नहीं होता। इस कमी को पूरा करने के लिए मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र विगत ग्यारह वर्षों से विद्यार्थियों एवं विश्वविद्यालय परिवार के अन्य सदस्यों के लिए कार्यशालाओं का आयोजन करता आ रहा है। केन्द्र ने इस वर्ष इस शृंखला में ग्यारहवीं कार्यशाला का आयोजन किया। इस वर्ष विभिन्न संकायों के 112 विद्यार्थियों ने इस कार्यशाला में भाग लिया। इनमें 33 छात्राये तथा 72 छात्र व 6 अध्यापक एवं कर्मचारी सम्मिलित थे। कार्यशाला में

उद्घाटन एवं समापन के अतिरिक्त 31 सत्र आयोजित किये गये। इन सभी सत्रों में कुल 66 घण्टे चर्चाएँ हुईं।

कार्यशाला में विभिन्न संकायों के 12 वरिष्ठ आचार्यों एवं 2 अतिथि वक्ताओं ने अपनी प्रस्तुतियाँ दीं। ये सभी अपने-अपने विषयों के लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान हैं। अपने शिक्षण, शोध तथा प्रशासनिक कार्यों में अतिव्यस्त होते हुए भी इन्होंने कार्यशाला के लिए अपना मूल्यवान समय दिया। चर्चाओं की विषय-वस्तु में आध्यात्मिक, नैतिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक मूल्य तथा जीवन के विभिन्न पक्षों से जुड़े मूल्य शामिल थे। साथ ही विभिन्न महापुरुषों के प्रेरणात्मक जीवन से सम्बन्धित चर्चाएँ भी की गयीं। सभी प्रस्तुतियाँ जीवन के व्यावहारिक एवं सामाजिक पक्षों से सम्बन्धित थीं। व्यावहारिक रूप से उपयोगी चर्चाओं के कुछ बिन्दु थे, अभिव्यक्ति कौशल, मिलजुलकर रहने एवं कार्य करने का कौशल, जीवन में सफलता के कुछ व्यावहारिक सूत्र, उद्यमिता एवं स्वावलम्बन, सृजनात्मक क्षमता का विकास, साक्षात्कार का सामना कैसे करें? आदि। प्रयास किया गया कि चर्चाओं की शैली उपदेशात्मक न होकर संवादात्मक हो।

कार्यशाला का एक अन्य महत्वपूर्ण और प्रेरणादायक पक्ष था, बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट ध्यान पद्धति, मैत्री भावना का सामूहिक अभ्यास। प्रतिदिन सत्र के अन्त में 5 मिनट यह अभ्यास किया जाता था। प्रतिभागियों ने इस अभ्यास को कार्यशाला का सर्वाधिक सकारात्मक पक्ष बताया।

कार्यशाला से निकले हुए प्रतिभागियों ने सेवाकार्य के रूप में दो रचनात्मक कार्यक्रम भी प्रारम्भ किए हैं। ये हैं,

(1) विश्वविद्यालय में अध्ययनरत नेत्र विहीन छात्रों की पाठ्य सामग्री को डिजिटल रिकार्डिंग के रूप में परिवर्तित करना।

(2) बाल चेतना विकास केन्द्र के माध्यम से गरीब परिवारों के बच्चों का समग्र विकास करना।

ये दोनों ही सेवाकार्य प्रभावशाली ढंग से चलाये जा रहे हैं। विश्वविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालय के सहयोग से डिजिटल रिकार्डिंग का कार्य पूरा किया जा चुका है और बाल चेतना केन्द्र में 40 बच्चों को सायंकाल 3 से 6 बजे तक प्रतिदिन पढ़ाया जा रहा है।

कार्यशाला का समापन सत्र 7 नवम्बर 2007 बुधवार सायंकाल 5 बजे मालवीय भवन सभागार में सम्पन्न हुआ। समापन सत्र के मुख्य अतिथि थे श्री ओपी० केजरीवाल (सूचना आयुक्त, भारत सरकार)।

स) उद्योग एवं प्रबन्धन जगत के अधिकारियों एवं प्रबन्धकों के लिए कार्यशाला

विषय : “Human Values and Human Competencies for Corporate Excellence.”

अवधि : फरवरी 4-7, 2008



केन्द्र विगत चार वर्षों से उद्योग एवं प्रबन्धन जगत के अधिकारियों के लिए एक कार्यशाला का आयोजन कर रहा है। इस कार्यशाला में विभिन्न उद्योगों के वरिष्ठ अधिकारी भाग लेते हैं। इस वर्ष आयोजित कार्यशाला में भाखड़ा व्यास प्रबन्धन बोर्ड, इस्पात इण्डस्ट्रीज लिमिटेड, रिलाइंस इण्डस्ट्रीज लिमिटेड के अधिकारियों ने भाग लिया।

इस कार्यशाला में उद्घाटन एवं समापन सत्र के अतिरिक्त 18 सत्र आयोजित किए गये। प्रत्येक सत्र डेढ़ घण्टे का था। इस प्रकार कुल 30 घण्टे चर्चाएं हुईं। सभी सत्र प्रभावशाली थे। प्रतिभागियों द्वारा प्राप्त Feed Back के आधार पर लगा कि कार्यशाला पूर्णतया सफल रही।

2. विशिष्ट व्याख्यानों एवं संगोष्ठियों का आयोजन

अ) विशिष्ट अतिथि व्याख्यान

वक्ता : श्री राकेश कुमार मित्तल, आई०ए०एस०, प्रमुख सचिव, उच्च शिक्षा, उ०प्र० शासन

विषय : 'उच्च शिक्षा व्यवस्था में नैतिक एवं मानवीय मूल्यों की प्रतिस्थापना'

दिनांक : 23 नवम्बर 2007, समय : सायंकाल 4 बजे से



मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र द्वारा प्रतिवर्ष विशिष्ट अतिथि व्याख्यानों का आयोजन किया जाता है। इसी क्रम में इस वर्ष एक विशिष्ट अतिथि व्याख्यान का आयोजन विधि संकाय के सभागार में 23 नवम्बर 2007 को आयोजित किया गया। इस व्याख्यान के वक्ता थे चिंतक एवं मूल्यनिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी श्री राकेश कुमार मित्तल।

श्री मित्तल जी प्रमुख सचिव उच्च शिक्षा, उ०प्र० शासन के पद पर रहते हुए उच्च शिक्षा पाठ्यक्रम में मानवीय मूल्यों की शिक्षा को कैसे समाहित किया जाय? के लिए प्रयत्नशील हैं। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने अपने व्याख्यान का विषय चुना— 'उच्च शिक्षा व्यवस्था में नैतिक एवं मानवीय मूल्यों की प्रतिस्थापना'।

आपने अपने उद्बोधन में यह बार-बार कहा कि यदि उच्च शिक्षा को मात्र जीविकोपार्जन के

साधन के रूप में ही देखा जायेगा, तो फिर मूल्यनिष्ठ, सभ्य एवं मानवोचित समाज, की स्थापना सम्भव नहीं हो सकती। शिक्षा को उसके व्यापक अर्थों में समझने की जरूरत है। यह दायित्व अध्यापकों का है कि वे शिक्षा के सही मर्म को समझें और अपने विद्यार्थियों में उसे रूपान्तरित करें। इस विशिष्ट अतिथि व्याख्यान में विश्वविद्यालय परिवार के विभिन्न संकायों व सम्बद्ध महाविद्यालय के लगभग 80 अध्यापक एवं विद्यार्थी सम्मिलित हुए।

इस अतिथि व्याख्यान को आयोजित करने हेतु श्री विश्वनाथ मंदिर रख-रखाव मद से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ।

ब) स्वामी विवेकानन्द जयन्ती (युवा दिवस) पर संगोष्ठी का आयोजन

विषय : “शक्ति पुंज स्वामी विवेकानन्द और हम”

वक्ता : स्वामी वरिष्ठानन्द जी महाराज (रामकृष्ण मिशन, सेवाश्रम, वाराणसी)

दिनांक : 12 जनवरी 2008, **सायंकाल :** 4 बजे से 6 बजे तक

केन्द्र प्रतिवर्ष स्वामी विवेकानन्द जी के जन्मदिन 12 जनवरी को युवादिवस के रूप में मनाता है। इस दिन स्वामी जी के जीवन से सम्बन्धित किसी एक पक्ष को केन्द्रित करके एक संगोष्ठी का आयोजन किया जाता है। इस वर्ष संगोष्ठी का विषय था— “शक्ति पुंज स्वामी विवेकानन्द और हम”। इस संगोष्ठी के मुख्य वक्ता थे— ‘स्वामी वरिष्ठानन्द जी महाराज (रामकृष्ण सेवाश्रम, वाराणसी)।

स्वामी जी ने युवाओं को स्वामी विवेकानन्द जी के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों की जानकारी देते हुए बताया कि स्वामी जी के व्यक्तित्व का सबसे बड़ा सकारात्मक पक्ष था आत्मविश्वास, मानवीय करुणा एवं प्रेम के प्रति निष्ठा। वे कहते थे कि जिस व्यक्ति को अपने ऊपर विश्वास नहीं है, वह नास्तिक है। जिसमें बेसहारा, गरीब, दुःखी प्राणियों के प्रति प्रेम, करुणा नहीं वह किसी ईश्वर का भक्त नहीं हो सकता। इसलिए अपने अन्दर मानवीय सद्गुणों को विकसित करने से ही हम सच्चे अर्थों में मानव हो सकते हैं। इस संगोष्ठी में लगभग 120 लोगों ने भाग लिया। इस दिन स्वामी जी के कर कमलों द्वारा केन्द्र द्वारा प्रकाशित ‘मूल्य-विमर्श’ पत्रिका के पांचवे अंक का विमोचन भी किया गया।

3. प्रकाशन

‘मूल्य-विमर्श’ पत्रिका का प्रकाशन

मालवीय मूल्य अनुशीलन केन्द्र नियमित रूप से ‘मूल्य-विमर्श’ पत्रिका का प्रकाशन करता है। इस पत्रिका के प्रतिवर्ष दो अंक प्रकाशित किए जाते हैं, जनवरी में और जुलाई में। इस वर्ष जनवरी अंक का प्रकाशन 12 जनवरी 2008 को किया गया।

इस पत्रिका में नैतिक एवं मानवीय मूल्यों से सम्बन्धित विभिन्न पक्षों पर आधारित लेखों का प्रकाशन किया जाता है। अब इस पत्रिका ने प्रबुद्ध वर्ग के बीच अपना विशिष्ट स्थान बना लिया है। इसके पाठकों व लेखकों की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है। पत्रिका के इस अंक को छापने का खर्च श्री विश्वनाथ मंदिर ‘रख-रखाव’ मद से प्राप्त आर्थिक सहयोग से किया गया। •